THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

प्रकाशक :
देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान
जयपुर-३०२ ००३

•

प्रथमावृत्ति : सन् १९८२

•

मूल्य २०.००

•

प्राप्ति स्थान :
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान
यति श्यामलालजी का उपाश्रय
मोतीसिंह भोमियो का रास्ता,
जयपुर-३०२ ००३ (राज०)

•

मुद्रक
अजन्ता प्रिन्टर्स
घी वालों का रास्ता,
जयपुर-३०२ ००३

प्रकाशकीय

स्वर्गीय आचार्य काका कालेलकर साहब देश के प्रमुख मौलिक विचारक थे। गाँधी दर्शन उनका विशिष्ट क्षेत्र रहा। अन्य विषय पर भी उन्होने लिखा। जैन दर्शन भी उनका प्रिय विषय रहा है। भगवान् महावीर और जैन दर्शन पर उन्होने कई लेख लिखे। जिनमे से कुछ लेख समय-समय पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित हुए व कुछ अप्रकाशित रहे। इन सब का सकलन इस पुस्तक के रूप मे प्रस्तुत है। पुस्तक की विशेषता यह है। कि इसमे उनकी वैचारिक-स्वतन्त्रता, सैद्धान्तिक-अटिगता, स्पष्टवादिता व समन्वयवादिता स्पष्टत झलकती है। यह सम्भव है कि परम्परागत विचारो से उनका मतभेद कई बिन्दुओ पर रहा हो, पर जैसे उन्होने लिखा उसी तरह उनके लेख प्रस्तुत किये गये। यह आवश्यक नही कि उनके विचार एव इस सस्थान के विचार पूर्णरूपेण मेल खाए। पर इस सस्थान की नीति कि, वैचारिक स्वतन्त्रता एव स्पष्टवादिता का सम्मान किया जाय, के सन्दर्भ मे उनके विचार ज्यो के त्यो प्रस्तुत किये गये है।

आचार्य श्री काका साहब का पार्थिव शरीर अब हमारे बीच नही है, पर इस अवसर पर हम उनके प्रति आदरपूर्वक भावभीनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करते है।

पुस्तक की पाण्डुलिपि उपलब्ध कराने मे बहिन सरोजिनी नानावटी, बहिन कुसुम शाह का विशेष योगदान रहा। श्री गुलाबचन्दजी साहब जैन, दरियागज दिल्ली ने उन्हे प्राकृत भारती का परिचय दिया और पाण्डुलिपि प्राप्त कराने के लिये विशेष प्रयास किया। यह सस्था दोनो के प्रति आभार प्रकट करती है।

राष्ट्र सन्त कवि उपाध्यायश्री अमरमुनिजी महाराज साहब ने मौन और ध्यानावस्था मे सलग्न रहते हुये भी इसकी प्रस्तावना लिखी है इसके लिये सस्थान उनके प्रति हृदय से श्रद्धापूर्वक आभार व्यक्त करती है। महोपाध्याय श्री विनयसागरजी साहब सयुक्त सचिव,

राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान एव श्री ओकारलालजी मेनारिया ने पुस्तक के प्रकाशन मे अपना अमूल्य समय व सहयोग दिया, उसके लिये भी सस्था उनके प्रति आभार व्यक्त करती है।

श्री जितेन्द्र सघी, अजन्ता प्रिन्टर्स ने इस पुस्तक का मुद्रण किया उसके लिये भी सस्थान उनके प्रति आभार प्रकट करता है।

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान
जयपुर

17 अक्टोबर, 1982

प्रस्तावना

साहित्यकार साहित्य का वह महतो महीयान् देवतात्मा हिमगिरि है, जिसके अन्तस्तल से जनमन को पावन करने वाली साहित्यिक भावधारा प्रवाहित होती है। अन्तस्तत्त्व का साहित्यकार, लिखने के लिए नही लिखता। वह लिखता है सत्य के साक्षात्कृत ज्ञानसागर मे सहज रूप से उच्छलित उदात्त भावतरगो को जनहित मे शब्दबद्ध करने के लिए। यह लेखन, उसकी अपने मे अनिवार्यता है। सत्य का बोधामृत ज्योही अनुभूतिगम्य होता है, त्योही उसे वह जनकल्याणी भावना से जन-जन मे मुक्तभाव से वितरण करने के लिए आकुल हो उठता है। साहित्य शब्द का निर्वचन है—"सहितस्य भाव साहित्यम्।" उक्त निरुक्ति मे जो 'हित' मुखरित है, वही सार्वजनीन सर्वमगल हित है, जो तत्त्वदर्शी साथ ही उदारमना एव करुणामूर्ति साहित्य-कारो को साहित्य-लेखन मे प्रवृत्त करता है। यही वह साहित्य है, जो काल के तीव्रगति से बहते प्रवाह मे भी चिरस्थायी रहता है, और रहता है हरक्षण ताजा। वह यो ही अकालमृत्यु नही पा जाता, बासी नही हो जाता कि आज बना और कल मुर्दाघाट मे या रद्दी की टोकरी मे।

प्रज्ञापुरुष, विद्वद्वरेण्य श्री काका साहेब यथार्थ मे उपरि वर्णित महत्तम कोटि के साहित्यकार है। उनका साहित्य न किसी सम्प्रदाय एव मतविशेष की रूढ मान्यताओ पर आधारित होता है और न किन्ही पूर्वाग्रहो मे प्रभावित। उनके साहित्य का मूल स्वानुभूति सत्य पर प्रतिष्ठित है। उनका सत्य केवल भाषा का सत्य ही नही, उनके स्वय के शब्दो मे जीवन सस्कृति की बुनियाद है। सत्य से भिन्न कोई धर्म हो ही नही सकता। तीर्थंकर भगवान महावीर का सत्य के सम्बन्ध मे एक बोधवचन है 'सच्च खु भगवं'[1]—सत्य ही भगवान है। और, इसी अमर दिव्यध्वनि से मुखरित सत एकनाथ का वचन उद्धृत करते हुए काका साहेब ने कहा है–'सत्य ही परब्रह्म है'–'सत्य तेचि परब्रह्म।' जिसके अन्तश्चेतना मे सत्य के प्रति इतना प्रगाढ समर्पण हो, उसके विचार और व्यवहार मे सर्वत्र सत्य का अपराजित स्वर अनुगु जित रहता है। यही

---

१ प्रश्नव्याकरण सूत्र

कारण है कि काका साहेब के हर लेखन और भपण मे प्राणवत्ता एव तेजस्विता के दर्शन होते है। लगभग पचास वर्षों से मेरा उनसे परिचय रहा है। इन वर्षो मे अनेक बार स्नेह-स्निग्ध मिलन हुआ है और साथ ही मुक्त मन से विचार विनिमय भी। मैंने हर विचार-चर्चा मे उन्हे खुले मन का वह सत्य-साधक देखा है, जो अपने प्रतिभासित सत्य के प्रति मन, वचन एव कर्म से पूरी तरह वफादार है। उसके प्रतिपादन मे, हाँ या ना कहने मे उन्हे न कही कोई सकोच है, न झिझक है और न घुमाव-फिराव है। जो भी बात है, बेलाग और बेदाग। सत्य के प्रति समर्पित ऐसे महान् मनीषी हर युग मे दुर्लभ रहे है और रहेगे। काका साहेब इस युग के ऐसे ही दुर्लभ मनीषियो मे से एक स्वनामधन्य मनीषी थे।

काका साहेब की प्रस्तुत पुस्तक उनकी इसी उपरि चर्चित गरिमा के अनुरूप है। यह एक सग्रह पुस्तक है। इसमे भगवान महावीर, उनके जीवन सन्देश, जैन धर्म, जैन यात्रा स्थल, अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह एव मानवता आदि बहुविध विषय से सम्बन्धित निबन्धो तथा प्रवचनो का महत्त्वपूर्ण सकलन है। प्राय प्रत्येक विषय पर काका साहेब का गहरा तलस्पर्शी चिन्तन है, जो पाठक के अन्तर्मन को काफी गहराई तक छू जाता है। उनके बोल अन्तर्हृदय के बोल है, अत हृदय की बात हृदय मे अनायास पैठ जाती है।

भगवान महावीर और उनके दिव्य व्यक्तित्व एव कृतित्व का वर्णन करते समय लगता है कि काका साहेब उन्ही की निकट परम्परा के अनुयायी है। महावीर को वे परमगुरु, अहिंसा की दिव्यमूर्ति एव समन्वय दृष्टि के रूप मे यथाप्रसग श्रद्धा के साथ स्मरण करते है। प्रस्तुत पुस्तक मे ही एक जगह काका ने लिखा है "ऐसे जो इने गिने मृत्युजय महापुरुष हो गए है, उनमे महावीर का स्थान अनोखा है।"[1] अनोखा का अर्थ है—अनूठा अर्थात् अनुपम। इस पर से स्पष्ट है कि महावीर से और उनके लोकमगल दिव्य धर्म-सन्देशो से वे कितने अधिक प्रभावित है।

जैन धर्म और दर्शन के प्रति भी उनकी आस्था सहज श्रद्धा से अनुप्राणित है। जैनत्व कितने ऊँचे आदर्श की स्थिति है, यह उन्ही के शब्दो मे देखिए। जैन और जैनेतर की भेदरेखा खीचते हुए उदारमना काका साहेब ने लिखा है—"जो मनुष्य केवल आत्मा के प्रति सच्चा है, आत्मा की उन्नति के लिए ही जीता है, अनात्मा के मोहजाल मे नही फँसता है, वही जैन है।

---

१ प्रस्तुत पुस्तक पृ ९५

बाक़ी के सब लोग जैनेतर है।" जैनत्व की कितनी उदात्त एव उच्चस्तरीय व्याख्या है। यह जैनत्व की वह व्यापक व्याख्या है, जिसमे धर्म के रूप मे प्रचारित जीवन के सभी उच्च आदर्श समाहित हो जाते है, जिनसे कभी भी, कही भी किसी का विरोध नही हो सकता। इन्ही भावनात्मक क्षणो मे उन्ही ने एक बार मुझ से कहा था—"मैं आज का साम्प्रदायिक जैन तो नही, परन्तु महावीर का अनुयायी शुद्ध जैन अवश्य हूँ।" काश, यह दृष्टि मानवमात्र को मिल जाए, तो धरती पर पारस्परिक सौहार्द भावना के प्रकाश मे सर्वतोमुखी मगल कल्याण का एक अखण्ड विश्वराज्य स्थापित हो जाए।

आजकल यत्र तत्र विश्वधर्म की काफी लम्बी चौडी चर्चाएँ होती है। प्रत्येक धर्म-परम्परा का पक्षधर अपने साम्प्रदायिक धर्म को विश्वधर्म के रूप मे प्रतिष्ठापित करने की धुन मे है। मै और मेरा धर्म ही सर्वोत्कृष्ट, अन्य सब निकृष्ट, यह है आज का मानसिक द्वन्द्व, जो यदा कदा तन की मारा मारी के रूप मे भी अवतरित हो जाता है। धर्म के पवित्र नाम पर घात, प्रतिघात और रक्तपात की एक ऐसी दीर्घाति-दीर्घ परम्परा बन जाती है, जो खत्म होने का नाम तक नही लेती। इस सन्दर्भ मे तत्त्वदर्शी काका साहेब ने "महावीर का विश्वधर्म" शीर्षक से जो विचार प्रकट किए है, यदि उन पर यत्किंचित् भी ध्यान दिया जाए तो मानव-जाति की जीवन-यात्रा पूर्णरूपेण मगलमय हो सकती है। महावीर के अहिंसा धर्म को विश्व धर्म के रूप मे प्रतिष्ठापित करते हुए काका कहते हे कि—"स्याद्वादरूपी बौद्धिक अहिंसा, जीवदयारूपी नैतिक अहिंसा और तपस्यारूपी आत्मिक अहिंसा (भोग यानि आत्म-हत्या—आत्मा की हिंसा, तप यानि आत्मा की रक्षा—आत्मा की अहिंसा) ऐसी त्रिविध अहिंसा को जो धारण कर सकता हे, वही विश्व धर्म हो सकता है। वही अकुतोभय विचर सकता है ऊपर बताई हुई प्रस्थानत्रयी के साथ ही व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन-यात्रा हो सकती है। आत्मा की खोज मे यही पाथेय काम आने योग्य है।"

अहिंसा के सम्बन्ध मे काका का विश्लेषण एव विवेचन काफी गहरा है, साथ ही व्यापक भी। कुछ धर्म-परम्पराओ मे अहिंसा सिमट कर बहुत छोटे-से क्षुद्र घेरे मे आबद्ध हो गई है। अमुक दिन अमुक साग-सब्जी न खाना, कन्दमूल तथा बहुबीज वनस्पति का त्याग करना, कीडे-मकोडो की यथासाध्य रक्षा करना—कुछ ऐसे ही विधि-निषेध के विकल्प हे, जिनमे हिंसा और अहिंसा

का विचार तथा आचार अटक कर रह गया है। उक्त सूक्ष्म अहिंसा का विचार-व्यवहार भी अयुक्त नही है। परन्तु काका साहेब इस पर जो कटाक्ष जैसी शब्दावली का प्रयोग करते है, उसका अर्थ कुछ और है। काका की दृष्टि जनजीवन पर सब ओर व्यापक रूप मे जल रहे हिंसा के दावानल पर है, जिस मे मानव-जाति की मानवता का शिवत्व ही अनियन्त्रित गति से भस्म होता जा रहा है। आप सब देख रहे है, आज क्या स्थिति है, देवदुर्लभ कहे जाने वाले पवित्र मानवीय जीवन की। आये दिन हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख आदि साम्प्रदायिक धर्मों के नाम पर मानव का रक्त बह जाता है,—उच्च और निम्न वर्ण के जातीय सघर्ष मे निर्दोष नर नारी मौत के शिकार हो जाते है। वैज्ञानिक एव चिकित्सा सम्बन्धी परीक्षण, खाद्य समस्या का समाधान, विलास एव सौन्दर्य-सामग्री का निर्माण तथा देवी-देवताओ को बलिदान आदि के रूप मे मूक पशु-पक्षियो तथा जलचर आदि पर जो क्रूरतापूर्ण हत्याकाण्ड के कार्य हो रहे है, वे कितने भयकर हृदयप्रकम्प है, कुछ पूछिए नही। दहेज आदि के रीति-रिवाजो पर नारी-जाति पर क्रूर अत्याचार हो रहे है—बलात्कार ही नही सामूहिक बलात्कार जैसे नृशस अपकर्म भी कम नही है। आर्थिक शोषण, युद्ध, विग्रह, कालाबाजार और तस्करी आदि की हिंसा का ताण्डव-नृत्य अलग ही अपनी विभीषिका दिखा रहा है। अपराधकर्मियो द्वारा खुले आम हत्या, लूटमार, छीना-झपटी आदि के कुकृत्यो का अभिशाप अपनी चरम-सीमा पर पहुँच रहा है। सब ओर भय व्याप्त है। कही भी मनुष्य का जीवन और मान-मर्यादा सुरक्षित नही है। "जीवन व्यापी अहिंसा और जैन समाज" शीर्षक से काका साहेब इसी ओर सकेत करते है। स्पष्ट है, जब तक हम सब ओर फैल रही उक्त व्यापक हिंसा का प्रतिरोध न करेंगे, व्यापक स्तर पर अहिंसा एव मैत्री का प्रचार-प्रसार न करेंगे, तब तक मानव न अपना आध्यात्मिक विकास कर पाएगा और न सामाजिक मगल और कल्याण। प्रस्तुत सग्रह मे काका के अहिंसा से सम्बन्धित विचार पक्षमुक्त भाव से मननीय है, मननीय ही नही सर्वात्मभाव मे जीवन मे अवतारणीय है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पथ नही है मानव-जाति के अभ्युदय एव निःश्रेयस् का।

प्रस्तावना का अक्षरदेह लबा होता जा रहा है। विचार क्रान्ति के सूत्रधार काका साहेब के एक-एक विचार-चिन्तन पर बहुत कुछ कथ्य है, परन्तु

प्रकाशन का इतिहास

स्वर्गीय पूज्य आचार्य काका कालेलकर की पुस्तक 'महावीर का जीवन सन्देश युग के सन्दर्भ मे' पाठको के समक्ष रखने से पहले इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व प्रयत्नो के सन्दर्भ मे कुछ कहना आवश्यक है।

प्रस्तुत लेखो का सकलन काका साहब के जीवन काल मे बहुत पहले ही तैयार हो चुका था और प्रकाशनार्थ भारतीय ज्ञानपीठ को सौप दिया गया था, किन्तु यह ज्ञानपीठ भगवान् महावीर की अहिसा, अपरिग्रह व सत्य के विषय मे काका साहब के स्वतन्त्र विचार और शोधपूर्ण दृष्टिकोण को अपने सकीर्ण दृष्टिकोण के कारण झेल न सका एव कई वर्षो तक यह पाण्डुलिपि यो ही पडी रही और अन्त मे वर्षों बाद वापस लौटा दी गई। पश्चात् श्री राजकिशन जैन ट्रस्ट दिल्ली वालो ने इसको प्रकाशनार्थ स्वीकार किया किन्तु यहाँ भी यह सकीर्ण वृत्ति का शिकार रही।

श्री डी. आर मेहता, सचिव, राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान ने जब इस पाण्डुलिपि का परिचय दिया गया तो उनकी प्रबल उत्कठा रही कि यह पुस्तक सस्थान द्वारा प्रकाशित की जाय। उनके अनुरोध को स्वीकार कर हमने प्रयत्न पूर्वक इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को सकीर्ण दलदल की भूमिका से निकालकर श्री मेहता जी को प्रकाशनार्थ प्रदान की।

हम सब की यह अभिलाषा थी कि इस पुस्तक की भूमिका स्वनामधन्य काका साहब के चिर परिचित सहयोगी-साथी जैनागम वेत्ता तत्त्वा-वेषक पण्डित बेचरदास जीवराज दोसी से लिखवाई जाय। इसके लिये उनसे अनुरोध भी किया गया था जिसे उन्होने 93 वर्ष की वृद्धावस्था मे भी स्वीकार कर लिया था, किन्तु दैव दुर्विपाक से अकस्मात ही 12 अक्टूबर 1982 को अहमदाबाद मे उनका स्वर्गवास हो गया।

ऐसी स्थिति मे हमने पुस्तक की प्रस्तावना लेखक के विचार और उनके व्यवहार से अनुप्राणित गाँधीवादी से ही लिखवाना उपयुक्त समझा। इसलिये हम सब साथियो का यही विचार रहा कि अब पुस्तक की प्रस्तावना स्वर्गीय

काकाजी के चिरपरिचित और पण्डित बेचरदासजी के प्रिय विद्यार्थी, स्वतन्त्र चिन्तक, सत्यशोधक, राष्ट्रसत, कविवर उपाध्याय अमरमुनिजी से लिखवाई जावे। कवि श्री से लिखवाने का भार श्री गुलाबचन्द जी जैन, दिल्ली को सौपा गया। श्री गुलाबचन्द जी वार्धक्य एव अस्वस्थ होते हुए भी स्वय अपने पौत्र श्री अजितकुमार को साथ लेकर राजगृह गये और उपाध्याय श्री से प्रस्तावना के लिए निवेदन किया। उपाध्याय श्री ने मौन एव ध्यानावस्था मे रहते हुए भी काकाजी की इस पुस्तक की महत्ता को स्वीकारते हुए प्रस्तावना लिखकर हम सब को अनुग्रहीत किया, एतदर्थ हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं।

राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान के सचिव श्री देवेन्द्रराजजी मेहता और सयुक्त सचिव जैन साहित्य मनीषी महोपाध्याय विनयसागरजी ने इसे प्रकाशित कर स्वतन्त्र चिन्तको के लिए पाथेय प्रदान किया, एतदर्थ हम इन दोनो के भी हृदय से आभारी है।

गुलाबचन्द जैन
सरोज नानावती
कुसुम शाह

दिल्ली
23 अक्टूबर 1982

लेखानुक्रमणिका

१. जैन स्थलो का दर्शन — 1–32

- 1 महावीर की निर्वाणभूमि — 3–7
- 2 अहिंसा की पृष्ठभूमि — 8–16
- 3 अजितवीर्य बाहुबलि — 17–32

2 जैन समाज से परिचय — 33–54

- 1 जैन समाज के साथ मेरा परिचय — 35–40
- 2 जैनेतर — 41–44
- 3 हिन्दू की दृष्टि से जैनधर्म — 45–50
- 4 समस्त हिन्दू — 51–54

3. महावीर का जीवन सदेश — 55-66

- 1 महावीर का विश्वधर्म — 57–62
- 2. महावीर का जीवन सदेश — 63–66

4 धर्म-सस्करण की आवश्यकता — 67–92

- 1 धर्म-सस्करण — 69–80
- 2 सुधारक धर्म मे सुधार — 81–92

5. धर्म-सस्करण का समाजशास्त्र — 93–104

- 1 हम भूतपरस्त बनें या भविष्य के सर्जक ? — 95–98
- 2 नया आध्यात्मिक समाजशास्त्र — 99–101
- 3 परम्परा किसे कहे ?- — 102–103

6 स्याद्वाद की समन्वय शक्ति — 105–'36

- 1 नया समन्वय — 107–110
- 2 त्रिवेणी समन्वय — 111 114
- 3 समन्वयकारी जैन दर्शन — 115–117

4. प्राण ग्रौर सस्कारिता 118–120
5 धर्मों से श्रेष्ठ धार्मिकता 121–123
6 धर्म के प्रकार ग्रौर नये धार्मिक प्रश्न 124–128
7 सर्वत्याग या सर्वस्वीकार 129–133
8 स्याद्वाद की समन्वय शक्ति 134–135

7. जैन धर्म ग्रौर ग्रहिंसा 137–154

1 जैन धर्म ग्रौर ग्रहिंसा 139–142
2 जीवनव्यापी ग्रहिंसा ग्रौर जैन समाज 143–146
3 ग्रहिंसा का नया प्रस्थान 147–148
4 ग्रहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान 149–154

8 महामानव का साक्षात्कार 155–182

1 क्षमापन का दिन 157–162
2 धार्मिक व्यक्तिवाद 163-164
3 धर्संभावना का सवाल 165–174
4 महामानव का साक्षात्कार 175–182

9· उपसहार 183–193

1. क्या जैन समाज धर्मतेज दिखायेगा ? 185–193

जैन स्थलों का दर्शन

महावीर की निर्वाणभूमि

•

अहिंसा की पुण्यभूमि

•

अजितवीर्य बाहुबलि

बेल के समान दिखाई देते है। आसपास सभी जगह धान की खेती और बीच मे सफेद मन्दिर। रास्ता गोल चक्कर काटकर हमे मन्दिरो की ओर ले जाता है।

ये पाँच मन्दिर हैं। इनमें एक ही मन्दिर प्राचीन माना जाता है। ये मन्दिर जैनियो के हैं। अत उन्होने प्राचीनता को कही भी टिकने नहीं दिया है। काफी रुपये खर्च करके प्राचीनता का नाश करना ही मानो इनका खास शौक है। पालीताणा की भी यही हालत हो गयी है। सिर्फ देलवाडे मे ही उतनी मरम्मत होती है जितनी पुरानी कारीगिरी को शोभा दे सके।

मुख्य मन्दिर एक सुन्दर तालाब मे है। तालाब मे कमलो की एक घटा लिपटी हुई है। पानी मे मछलियाँ और जलसर्प अँगडाई लेते हुए इधर-उधर घूमते दिखाई देते है। हम जब वहाँ गये, तालाब का पानी कुछ सूख गया था। अत कमलो की गरदन खुली पडी थी और बेचारे पत्ते मानो सूखे पापड जैसे हो गये थे।

अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर की तरह यहाँ पर भी मन्दिर मे जाने के लिए एक पुल है। मन्दिरो का आकार नाटा पर प्रमाणशुद्ध है। गर्भगृह के आसपास चारो ओर लम्ब चौरस गुम्बज है। मन्दिर की यही विशेषता है। कलाकोविद लोग ऐसे गुम्बजो के आकार की काफी स्तुति करते है। आस-पास के दूसरे मन्दिरो के शिखर ऊँचे है। शिखरो मे कोई खास कला दिखाई नही देती। फिर भी दृष्टि पर उनका असर अच्छा पडता है।

इन मन्दिरो मे जो मूर्तियाँ है वे असाधारण सुन्दर हैं। ध्यान के लिए ऐसी ही मूर्तियाँ होनी चाहिए। इन मूर्तियो की सुन्दरता को देख कर मैं उन्हे मोहक कहने जा रहा था। पर तुरन्त याद आया कि इनका ध्यान तो मोह को दूर करने के लिए ही किया जाता है। चित्त को एकाग्र करने की शक्ति इन मूर्तिओ मे अवश्य है।

इन मन्दिरो मे पूजा वहाँ के ब्राह्मण ही करते है। जैन मन्दिरो में पूजा ब्राह्मण के हाथो हो ! यह कुछ अजीब-सा लगा। फिर भी 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जिनमन्दिरम्' कहने वाले ब्राह्मण—लोभलेटी क्यो न हो—इतने उदार हो सके इस बात का संतोष जरूर हुआ।

आज पावापुरी एक छोटा-सा देहात है। अहिंसा धर्म का प्रचार करने वाले महावीर जब यहाँ रहते थे तब उसका स्वरूप कैसा रहा होगा ?

हिन्दुस्तान के कई बड़े-बड़े नगर तो अब देहात हो चुके हैं और कई नगरों के तो नामोनिशां भी न रहे। अतः आज के देहात पर से प्राचीन पावापुरी की कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्राचीन काल का यहां कोई अवशेष दिखायी नहीं देता। सिर्फ महावीर के महानिर्वाण का स्मरण उस स्थल से चिपका हुआ है इसीलिये श्रद्धा की दृष्टि ढाई हजार साल अतीत में जा सकती है और महावीर की क्षीण किन्तु तेजस्वी काया शान्त चित्त से शिष्यों को उपदेश दे रही है ऐसा एक चित्र आंखों के सामने खड़ा हो जाता है। इस संसार का परम रहस्य, जीवन का सार, मोक्ष का पाथेय उनके मुखारविंद से जब झर रहा था, तब वह सुनने के लिये यहां कौन-कौन बैठे होंगे? अपना शरीर अब गिरने वाला है यह जानकर उस शरीर का अंतिम कार्य—प्रसन्न गम्भीर उपदेश—अत्यन्त उत्कटता के साथ कर लेने में आखिरी सब क्षण काम में लेने वाले उस परम तपस्वी का आखिरी दर्शन किसने किया होगा? और उनके उपदेश का आशय कितने लोग ठीक समझे होंगे? दृष्टि के लिए भी अगोचर सूक्ष्म जीवों से लेकर कल्पना के लिए भी अगोचर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड तक सारी वस्तु जाति का कल्याण चाहने वाले उस अहिंसा मूर्ति का हार्द किसने जमा लिया होगा? मनुष्य अल्पज्ञ है। उसकी दृष्टि एक-देशी होती है, संकुचित होती है। इसलिये उसे सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। हर एक मनुष्य का सत्य एकांगी सत्य होता है। इसलिए दूसरे के अनुभव की आलोचना करने का उसे कोई अधिकार नहीं। वरन् अधम हो जाता है। यों कहकर स्वभाव से उत्तम मानव बुद्धि को नम्रता सिखाने वाले उस परमगुरु को उस दिन किसने वन्दन किया होगा? इन शिष्यों के जीवन के बाद भी मानव जाति के लिए—हां, समस्त मानव जाति के लिये यह उपदेश काम आयेगा इस तरह का ख्याल उस पुण्यपुरुष के मन में क्या कभी आया होगा?

मैं मानता हूँ कि स्याद्वाद ने मानव-बुद्धि की एकांगिता को पहचान कर शास्त्रशुद्ध ढंग से उसे मानव-बुद्धि के सामने रख दिया है। एक दृष्टि से देखने पर कोई चीज एक तरह की मालूम होती है। दूसरी दृष्टि से देखने पर वह दूसरी तरह की मालूम होती है। जैसे जन्मान्ध हाथी को जांचते हैं, वैसी इस दुनिया में हमारी स्थिति है। क्या कोई कह सकता है कि यह वर्णन यथार्थ नहीं है? जिसे यह मालूम हुआ कि हमारी यही स्थिति है, वही इस जगत में यथार्थ ज्ञानी है। जो यह पहचानता है कि मनुष्य का ज्ञान एक-पक्षी

है, वही मनुष्यो मे सर्वज्ञ है। वाकयी सम्पूर्ण सत्य को जो कोई जानता होगा उस परमात्मा को हम अब तक पहचान नही सके है।

ज्ञान की इस मर्यादा मे ही अहिसा का उद्भव है। जब तक मैं सर्वज्ञ न बनू, दूसरे पर अधिकार जमाने का मुझे क्या हक है? मेरा सत्य मेरे लिए है। उसका अमल मुझे अपने जीवन मे अवश्य करना चाहिये। दूसरे को उसका साक्षात्कार न हो तब तक मुझे धीरज से पेश आना है। इस तरह की वृत्ति को ही अहिंसावृत्ति कहते है।

स्वाभाविक रूप से ही मनुष्य के जीवन मे सर्वत्र दु ख फैला हुआ है। जन्म-जरा-व्याधि से मनुष्य हैरान हो जाता है। इष्ट का वियोग और अनिष्ट का सयोग भी जीवन मे है ही। किन्तु स्वय मनुष्य ने क्या कम दु ख खडे किये है? मनुष्य यदि सतोष और नम्रता धारण करे तो मनुष्य जाति का नब्वे फी-सदी दु ख कम हो जायगा। आज जो अलग-अलग देशो के बीच और अलग-अलग कौमो के बीच कलह चल रहे है और मृत्यु के पहले ही इस सृष्टि पर जो नर्क हम खडा करते है उसे तो हम सिर्फ अहिंसावृत्ति से ही रोक सकते है।

हिन्दुस्तान के इतिहास का यदि कोई विशेष सार-बोध हो तो वह यही है कि हमने निम्न सार्वत्रिक प्रार्थना ढूँढ निकाली और चलायी

सर्वेऽत्र सुखिन सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु खभाग् भवेत्॥

इस वृत्ति मे पूरा जीवन साफल्य है। हिन्दुस्तान मे जो भी आये, सब यही रह गये। कोई वापस नही गये। जो आश्रित होकर आये वे भी रह गये और जो विजेता के उन्माद के साथ आये वे भी रह गये। सभी भाई-भाई बनकर रह गये और आयदा भी रहेगे। विशाल हिन्दू धर्म की—जनक के हिन्दू धर्म की, व्यास वाल्मीकि के हिन्दू धर्म की, गौतम बुद्ध के हिन्दू धर्म की, महावीर के हिन्दू धर्म की इस पूण्य भूमि मे सबके लिए स्थान है। क्योकि इसी भूमि मे अहिसा का उदय हुआ है। सारी दुनिया शान्ति की खोज कर रही है। त्रस्त दुनिया त्राहि-त्राहि पुकार रही हे। फिर भी उसे शान्ति का रास्ता मिल नहीं रहा है। जो लोग दुनिया को लूट रहे है, महायुद्ध छेड रहे है वे भी आखिर मे शान्ति ही चाहते है। किन्तु शान्ति कैसे प्राप्त हो?

अहिंसा की पुण्यभूमि

राजगीर से हम पावापुरी के लिए रवाना हुये। राजगृह के आसपास जो पाँच पहाड एकत्र है, उनमे से लम्बे विपुलगिरि को दाहिनी तरफ करके हम चले। रास्ते मे काम आयेगा, इस खयाल से मकदूम-कुण्ड का पानी भर-कर साथ ले लिया। मकदूम-कुण्ड का स्थान स्वाभाविक रूप से ही रमणीय है। वहाँ नहाने की व्यवस्था करने मे इन्सानियत का खयाल रखा गया है, देखकर सन्तोष हुआ। परन्तु आसपास मछलियो की और मुरगी की हत्या होती हुई देख चित्त मे ग्लानि पैदा हुई। जिस इस्लाम ने पहले से यह निश्चय कर लिया था कि कावा के मन्दिर मे मनुष्य या पशु की हिंसा नही होनी चाहिए वह इस्लाम क्या ऐसा नियम भी नही वना मकना कि जहाँ-जहाँ तीर्थ स्थान या इवादत की जगह है वहाँ-वहाँ अमुक एक निर्दिष्ट मर्यादा तक प्राणी की हत्या नही होनी चाहिये। इस्लाम का यह दावा हे कि आखिरी और सहल धर्म है। ऐसे धर्म मे भी इतनी वात तो जोडी जा सकती है कि जो अभय-दान कावा के मन्दिर मे है, वही अभय-दान हर एक पवित्र स्थान के लिए भी होना चाहिये।

मेरे विचार तेजी के साथ अहिंसा की खोज मे भविष्य काल की तरफ दौड रहे थे और उतने ही वेग से हमारी मोटर अहिंसा की पुण्य भूमि की तरफ हमे ले जा रही थी।

विपुलगिरि के साथ हम सात मील तक पूरब की तरफ चले और यहाँ सूर्य के अस्त की तैयारी के साथ-साथ हमारे भाग्य का उदय हुआ, क्योकि यहाँ हमने जो प्राकृतिक दृश्य देखा, वह सहज नही भुलाया जा सकता। जहाँ विपुलगिरि का उत्तुग शिखर समाप्त होता है, वही सुभग-सलिला पचान या पचानवेद नदी के रास्ते मे आडे आती है। यह स्पष्ट दिखाई देता था कि वह हमसे कहना चाहती थी, 'यहाँ एक रात ठहरकर न जाओ ?' पर, हमारी मोटर की तरफ ध्यान जाते ही उसने सोचा—'ये लोग जीवन-प्रवाही नही हैं, तैल-प्रवाही हैं।' (या पेट्रोल-प्रवाही कहे ?) ये ठहरेंगे नही।

सचमुच यह स्थान इतना सुन्दर था कि अगर सीता माता यहाँ आई होती, तो कम-से-कम तीन रात ठहरे विना आगे न जाती। भव्य पहाड की

छाया, पूजा के अक्षत-जैसी धवल रेत और 'हम कोई सामान्य पादप नही है, कुदरत के दरबार के दरबारी है,' ऐसे गर्व से झूमने वाले ताड के वृक्ष और बीच-बीच मे घास और हरियाली का गलीचा सभी कुछ चित्त को तर करने वाला था। 'मैं आई, मैं आई' कहती हुई सध्या ने सोने के छीटे छिडकना शुरू कर दिया था और पिता के समान पहाड उसे रोक रहा था।

रेत मे मोटर चलाना कोई सहज काम नही था। परन्तु गॉव के लोगो ने ताड के विशाल हाथ रेत मे समानान्तर पसार दिये थे। इसलिये, हम आसानी से उस पार जा सके और वहाँ से पीछे की तरफ मुँह फेरकर अतृप्त आँखो से उस सारे दृश्य का फिर से पान कर सके। हम जहॉ खडे थे, वहाँ हमारे पीछे छोटा-सा गिरियक गॉव ब्यालू की तैयारी कर रहा था।

गिरियक पार करते ही हम वज्रलेप रास्ते पर आये और बाई ओर हमने पाँच मील की दौड लगाई। यह सारा रास्ता तय करते वक्त हमारी आँखें पश्चिम दिशा की तरफ लगी हुई थी। पहाड लॉघते ही सूर्यनारायण के फिर दर्शन हुए, जिसका प्लैटिनम अब सोने का रूप ग्रहण कर रहा था। ताड के पेड खिलाडी बालको की तरह दौड-दौड कर दर्शन मे अन्तराय करते और दर्शन का आनन्द दस गुना बढाते थे। अस्तायमान सूर्य अपनी शोभा से यह सिद्ध कर रहा था कि आर्यजन प्रत्येक स्थिति मे आर्य ही रहते ह और आदर के अधिकारी होते है। क्या यहॉ की खेती, क्या ताड के और दूसरे पेड, क्या रास्ता सभी कलामय नजर आते थे। आधे बुने हुए खेत अपनी सीधी लकीरो से सारे चित्र को रेखाकित कर रहे थे और सूरज हलके-हलके अपना ऊँचा स्थान छोडकर पृथ्वी को पुचकारने और सहलाने के लिए नीचे उतर रहा था। आँखो को चौंधियाने वाला अपना तेज अब उसने उतार रखा था। सूर्यास्त को आखिर तक देखते रहे या नही, इसका निर्णय कर सकने के पहले ही हमारी दाहिनी तरफ रास्ते पर के खम्भा ने 'पावापुरी रोड' की गर्जना की और हमने तुरन्त ही दाक्षिण्य का सेवन किया।

हरे-हरे खेतो के विस्तार मे पावापुरी के शुभ्र मन्दिर कैसे शोभा देते है? इस जगह एक आर्य-हृदय के जीवन-काल का अन्त हुआ था। इस जगह 'वायु अनिल, अमृत अथेद भस्मान्त शरीर' की वेदवाणी कृतार्थ हुई थी और यहीं से भगवान् महावीर के गणधर अहिंसा का सन्देश लेकर दस दिशाओ मे फैल गये थे। जिसने उस स्थान को 'अपापापुरी' का नाम दिया, उसे अति-शयोक्ति करने की आदत थी, ऐसा कोई नही कह सकता। अहिंसा, अपरिग्रह

श्रौर तपस्या श्रगर पाप को हटाने मे समर्थ न हो, तो मनुष्य को कभी पुण्य के मार्ग का सेवन करना ही नही चाहिए।

कहते है कि गोरखपुर जिले मे काशिया के पास पुप्पोर नाम का जो गाँव है, वही महावीर का वास्तविक निर्वाण-धाम है। वेशक पावापुरी की अपेक्षा पुप्पोर नाम ही अपापपुर से अधिक मिलना-जुलता है। कँनिघम श्रौर राहुल साकृत्यायन भले ही सिद्ध करते रहे कि पुप्पोर ही असली स्थान है। लेकिन अगर जैनो की श्रद्धा उसे वहाँ से घसीटकर पावापुरी मे लाई हो, तो वैसा करने का उसे अधिकार है। हम तो इतिहास को खोद-खोदकर देखने वाली दृष्टि की अपेक्षा भक्तो की श्रद्धा का ही अधिक आदर करेगे।

श्रौर हमने लगभग वीस वर्ष पहले यह स्थान देखा था। इसलिए, अव तो मन-ही-मन हमारा यह निश्चय वँध चुका है कि अपापपुर दूसरा हो नही सकता।

रास्ते की एक वडी सर्पाकृति मोड पार करके हम जल-मन्दिर के महाद्वार के पास जा पहुँचे। दूसरे तीर्थ-स्थानो मे जैसी एक तरह की घव-राहट होती है, वैसी यहाँ नही हुई। यहाँ सव कुछ शान्त श्रौर प्रसन्न था। नया महाद्वार श्रौर उस पर वना हुआ नक्कारखाना, जो अव तक पूरा नही हुआ है, जल-मन्दिर तक वना हुआ चौडा पुल सव कुछ एक खास किस्म के लाल पत्थर से पटा हुआ है। पुल के दोनो तरफ वगीचे है श्रौर तालाव के अन्दर कमल के पत्ते, सारे तालाव को ढक देना उचित होगा या नही, इसके अनिश्चय मे सहज भाव से डोल रहे है। नीचे घाट के सामने वाला मन्दिर पुल से ठीक समकोण मे नही है, यह विशेषता तुरन्त ध्यान खीचती है। इसलिए कुछ अटपटा-सा लगता है। परन्तु, अन्त मे मन मे यही निर्णय होता है कि इसमे भी एक प्रकार की विशेष सुन्दरता है।

पानी की तरह पैसा खर्च करके स्थापत्य-कला की मिट्टी-पलीद करने का आरोप मैने आजकल के जैनो पर किया है। परन्तु पावापुरी का जल-मन्दिर एक आह्लाददायक अपवाद है।

यहाँ आने के वाद भला अमृतसर का स्वर्ण-मन्दिर याद आये विना कैसे रह सकता ? पर अमृतसर का तालाव एक तो कुछ छोटा है, दूसरे वह है मनुष्य की वस्ती के वीच श्रौर तीसरे उसमे कमल नही है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण-मन्दिर मे कवूतरो का उपद्रव आध्यात्मिक शान्ति का नाश करता है।

यहाँ पावापुरी मे धान के खेतो के बीच शोभा देने वाला यह कमल-कासार अपनी स्वाभाविकता से राज करता है और उसमे वना हुआ जल-मन्दिर किसी लोभी मनुष्य की तरह सारे द्वीप को व्याप नही लेता। उसने अपने चारो तरफ घूमने-फिरने के लिए काफी खुली जगह रख छोडी है और अपरिग्रह का वातावरण बनाया है। मदुरा के विशाल मन्दिरो मे अगर भव्यता है, तो पावापुरी के इस छोटे-से मन्दिर मे लघिमा और लावण्य की सिद्धि है।

यहाँ की तरह अगर जैन लोग अपने मन्दिरो मे सगेमरमर का उपयोग करे, तो उनकी कोई निन्दा नही करेगा। हाँ, उन्हे एक बात छोड देनी चाहिए। मालूम होता है कि जैनो मे भगवान् की भक्ति की अपेक्षा अपने नाम की अभिलाषा कुछ अधिक होती है। जहाँ पर नजर डालिए, दरवाजो या महाद्वारो पर बडी-बडी तख्तियाँ दिखाई देगी और उन पर नाम लिखे हुये पाये जायेगे। कई एक तो उन्होने कितने पैसे दिये है, इसका व्यापारी हिसाब भी खुदवाते है। यह सब जाहिर ही करना हो, तो दरवाजो के माथे की अपेक्षा यदि दरवाजे के दोनो तरफ की दीवार पर जमीन से दो-तीन फुट की ऊँचाई पर ही किया जाय, तो ख्याति भी मिलेगी और नम्रता की भी क्षति नही होगी।

कुछ वैष्णव भक्त दूसरे छोर को जाकर मन्दिर के महाद्वार के सामने के फर्श पर अपने नाम और आकृतियाँ खुदवाते है। मशा यह होती है कि दर्शन के लिए आये हुए असख्य भक्तो की चरणरज हमारे नाम पर पडेगी, तो उससे हम पावन हगे। इसमे नम्रता की पराकाष्ठा का परिचय मिलता है, लेकिन मुझ-जैसे दर्शनार्थिय को जो परेशानी होती है, उसका तो कोई खयाल ही नही किया जाता। उस भाई को नम्रता ने घेरा, इसलिए क्या मै उसके उद्धार के लिए लापरवाही अख्तियार करू और धूल से मलिन पैर उसके नाम पर रखूँ? वैष्णव भक्तो को जरा तो दया-धर्म निवाहना चाहिए।

इस बार पावापुरी के सरोवर मे साँप न देख सकने मे कुछ निराशा हुई। साँप जब पानी मे नाचता है, तब वह दृश्य मछलिय के विहार से कही अधिक कलात्मक होता हे और पावापुरी को छोड दूसरे किस स्थान मे ऐसा

दृश्य देखने को मिलने वाला था। मद्रास की 'जलचरी' (एक्वेरियम) है सही, किन्तु वह है छोटी। और, काच-कुण्ड के कगारा से बिजली के प्रकाश मे देखने की सुविधा होते हुए भी उमे कृत्रिम ही कहना चाहिए।

सध्या की शान्ति का समय था। हम सीधे मन्दिर के भीतर पहुँचे। वहाँ एक भाई और एक बहन बीचोबीच बैठकर कुछ पाठ कर रहे थे। भाई को पढने मे कही कठिनाई हुई, तो बहन तुरन्त उसकी सहायता के लिए दौड-कर उसकी कठिनाई दूर कर देती थी। हमारे देश मे ऐसा दृश्य स्वागत के योग्य है।

अहिंसा का साक्षात्कार करने वाले तपस्वी महावीर का कुछ क्षण के लिए ध्यान करके मैं बाहर निकला और गुँधा हुआ आटा लेकर मनोविनोद के लिए मछलिय को चुगाने के हेतु द्वीप की सीढियो के पास गया। हिन्दू-मात्र को यह कार्य पुण्यप्रद मालूम होता है। मैंने इसमे पुण्य तो कही नही पाया, परन्तु विनोद खूब पाया। मछलियो का आकार कलापूर्ण ही है। खासकर जब वे झुंड मे इकट्ठी होती है और क्रीडा करती है अथवा खाने के लिए छीना-झपटी करती है तब। मोडो, ऐंठनो का नृत्य एक जीवित काव्य बन जाता है। मैंने आँखे फाडकर साँपो को खोजा और निराश होकर इस मत्स्य-नृत्य से ही सतोष माना।

यह जल-मन्दिर महावीर का निर्वाण-स्थान नही है, वह तो गाँव-मन्दिर के नाम से पहचाने जाने वाले स्थल-मन्दिर मे है। जल-मन्दिर के स्थान पर महावीर की देह का अग्नि-सस्कार किया गया था। जैनो को बडी भारी सख्या और अतिशयोक्ति के बिना कभी सतोष नही होता। उन्होने एक कहानी गढ डाली है। अग्नि सस्कार के वक्त यहाँ तालाब नही था। परन्तु उस समय जो अरबो स्त्री-पुरुष आखिरी दर्शन के लिए यहाँ एकत्र हुए थे, उन्होने अपने माथे मे लगाने के लिए एक-एक चुटकी मिट्टी ली। इससे अग्नि-सस्कार के स्थान के चारो ओर गहरा गड्ढा हो गया और उसमे पानी भर जाने से इस तालाब का निर्माण हुआ।

कलकत्ता के कला-रसिक श्री बहादुरसिह सिघी की धर्मशाला मे थोडा-सा आराम किया। प्रकाश और अन्धकार के बीच होने वाले गजग्राह के समय उस तरफ मे हमने जल-मन्दिर का अन्तिम दर्शन किया। मै उसके

मन्दिरो मे भी अभ्यागतो की सम्मतियो की पुस्तक रखी जाती है। 'देखा हमारा मन्दिर ? लिख दीजिए आपके दिल पर जो छाप पडी हो और आपको जो आनन्द हुआ हो उसे,' ऐसा कहकर जब किताब आगे रखी जाती है, तब मै असमजस मे पड जाता हूँ। आनन्द व्यक्त करने मे मुझे सकोच नही होता। अगर वैसा होता, तो मै यह यात्रा सस्मरण नही लिखता। परन्तु, आनन्द को भी जमने और पकने मे समय लग जाता है। अगर पुजारी वनिता की तरह उतावली करेगे, तो उसमे मे विकलांग अरुण का ही जन्म होगा।

बडे प्रेम से सबसे विदा लेकर हम तैल-वाहन मे सवार हुए और समय पर पटना पहुचने के लिए मुख्य रास्ते पर आ पहुँचे। आकाश के सितारो ने हमे समझाया कि अब हम पश्चिम को जा रहे है, दोनो तरफ के पुराण-पुरुष जैसे वृक्ष यात्रा की सफलता का आशीर्वाद दे रहे थे। अब तो रास्ते के दोनो तरफ मोटर के प्रकाश मे चार-छह क्षणो के लिए प्रकट होने वाले और फिर तिरोहित होने वाले वृक्षो के सिवा देखने की कोई चीज नही थी। एकाध खरगोश या लोमडी मोटर के प्रकाश से भडककर भागने लगती थी, तो अलबत्ता ध्यान खीचती थी। परन्तु पावापुरी की अहिसा-भूमि के जी-भर के दर्शन करने के बाद और कुछ देखने की इच्छा ही नही हो रही थी। आकाश के नित्य-नूतन तारे भी बडे प्रेम से कहने लगे, "हम तो हमेशा के लिए है ही। आज हमारे साथ बाते न करो, तो हर्ज नही है। हम चिर-साक्षी है। यहाँ हमने अनेक अवतारो को देखा है। कई घटनाएँ हमने अपनी आँखो के निमेष और उन्मेषो मे नोध कर रखी है। आज हम तुम्हारे ध्यान मे अन्तराय नही करेगे। तुम ध्यान करते जाओ और हम अपने आध्यात्मिक ताल से तुम्हारा साथ करेगे।"

उपासना के योग्य अगर कोई सार्वभौम देवता है, तो वह जीवन है। परन्तु जीवन-देवता की उपासना विकट होती है। मनुष्य के लिए अगर कुछ हिततम है, तो जीवन को पहचानना ही है। जीवन-देवता बहुरूपिया है। वह देता है और लेता भी है। जन्म और मृत्यु उसकी दो विभूतियाँ है। दोनो को उसके कृपा-प्रसाद के तौर पर स्वीकार करना चाहिए। इस प्रसाद का हमारी ओर से दान करने से काम नही चलेगा। चाहे हम किसी को जन्म दें या मरण, जीवन-देवता तो असन्तुष्ट ही होता है। जीवन-रहस्य परखने की साधना के लिए मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, इसी साधना के लिये जान-बूझकर मृत्यु को न्योता देने मे आध्यात्मिक प्रगति नही है।

जन्म और मृत्यु जीवन के दो पहलू है। इन दोनो के प्रति जिसे मोह हो, वह जीवन-निष्ठ नही हो सकता। भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा दोनो जीवन-द्रोही है। इसलिए, जो कोई जीवन-देवता की उपासना करना चाहे, उसे अहिंसा के द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करनी चाहिए और तपस्या के द्वारा जीवन का साक्षात्कार करना चाहिए।

मृत्यु को जीतने के अनेक प्रयत्नो का उल्लेख हर एक धर्म के ग्रन्थो मे पाया जाता है। हजारो वर्षो तक शरीर को बनाये रखना, वार्धक्य टालना, रसायन खा कर वज्रकाय होना आदि अमर होने के सच्चे उपाय नही हैं। अमर होना हो, तो मृत्यु को परास्त करना चाहिए। जिसका मृत्यु मे विश्वास है, वही दूसरे को मारने का और अपने लिए मृत्यु टालने का प्रयत्न करेगा। जिसने यह जान लिया कि मृत्यु निर्वीर्य है, वह किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध मारेगा नही और जहाँ मर जाना आवश्यक हो, वहाँ मृत्यु का स्वागत करने मे हिचकेगा नहीं, उसी को हम मृत्युंजय कह सकते है।

ऐसे जो इने-गिने मृत्युंजय महापुरुष संसार मे हो गये है, उनमे महावीर का स्थान अनोखा है क्योकि उन्होंने मनुष्य-जाति मे विश्वास करके अहिंसा के अन्तिम स्वरूप का उपदेश किया। आज हम कहते है, "मनुष्य-मनुष्य का वैर शान्त नही हुआ है, भाई की हत्या से भाई नही हिचकता। जिसका वह दूध पीता है, गाय आदि पशु को मारकर खाने मे भी मनुष्य ने कोई कोर-कसर नही की। जिन जानवरो को पालकर अपने परिवार मे दाखिल किया, जिनकी मेहनत से अपना आहार जुटाया, उसको कत्ल करने मे भी जिसका दिल नही पिघलता, उस मनुष्य प्राणी से यह कहना कि 'तू हिंस्र पशुओं की भी हत्या न कर, कृमि-कीटको को भी यथाशक्ति बचाने की कोशीश कर और वनस्पति आहार मे भी जहाँ तक हो सके, जीव रक्षा का ध्यान रख,' शुद्ध मूर्खता है।"

परन्तु, किसी ने यह नही कहा है कि जीव-मात्र के लिए आदर भाव रखना हमारा धर्म नही है। और, अगर, हिंसा के आत्यन्तिक त्याग मे ही जीवन की सफलता हो, तो जिसे उसका साक्षात्कार हुआ हो, उसे उस सिद्धान्त को जनता के सामने रखना तो अवश्य चाहिए। उस वस्तु को स्वीकार करने की पात्रता आज मनुष्य-जाति मे भले ही न हो, उसमे से कही-कहीं केवल हास्यास्पद दम्भ भले ही पैदा होता हो, तो भी सत्य वस्तु

मनुष्य-जाति के सामने रखनी तो जरूर चाहिए। जो अहिंसा-सिद्धि के क्रम को नही पहचानेंगे, उनका जीवन विफल होगा। वे आगे बढने के बदले पिछड जायेंगे। परन्तु, ज्ञान के अभाव से या साधना की त्रुटि के कारण साध्य को छिपाकर नही रख सकते।

जिसे अहिंसा का अधिक से अधिक साक्षात्कार हुआ था और जिसने अहिंसा की साधना सिद्ध करने के लिये अपनी और अपने साथियो की जिन्दगी श्रद्धापूर्वक न्योछावर करदी, उस महावीर की वाणी जहाँ सुनाई दी, उस स्थान के दर्शन होते ही यह स्वाभाविक है कि मन अहिंसामय हो जाय और अहिंसा के बिना मनुष्यता किस तरह निस्तेज हो रही है, इसकी तरफ ध्यान जाय।

जो जीवन-देवता का स्वरूप और उसका हृदय जानकर उसकी अखण्ड उपासना तथा अनन्य भक्ति करना चाहता है, उसके लिए महावीर का जीवन और उनकी वाणी हमेशा आकर्षक रहेगी। हाँ, परन्तु इतनी सावधानी रखनी होगी कि कही यह सब यान्त्रिक और कृत्रिम न बन जाय, उपासना केवल धूप-दीप वाली पूजा न बन जाय और भक्ति केवल नामधारी अभियान मे ही परिणत न हो। ज्ञान और तपस्या मे ही जग लग जाय तो किसकी शरण ले?

अजितवीर्य बाहुबलि

१. ज्येष्ठ या श्रेष्ठ

वाहुबलि अथवा गोमटेश्वर का जीवन-चरित्र किसी भी महाकाव्य का विषय हो सकता है। वाल्मीकि का रावण, व्यास का दुर्योधन और मिल्टन का शैतान—तीनो ही सुन्दर विभूतियाँ है और अपनी दुष्टता मे भी उदारता का प्रदर्शन करती हैं, परन्तु अन्त तक अपने रजोगुण को नही छोडती। वाहुवलि इनमे बिल्कुल भिन्न प्रकार के वीर पुरुष है। वे अपनी सामाजिक और मानसिक शक्तियो का रजोगुणी उत्कर्ष दिखलाते हैं और फिर इससे कही अधिक ऊ चे उठ कर सतोगुण मे प्रवेश करते हैं। इस प्रकार वे आत्म कल्याण के साथ-साथ मानव समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त करते है।

महाराज ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। भाइयो मे आपस मे झगडा न हो और प्रजा का शोषण भी न हो इन बातो से बचने के लिए यह निश्चय किया गया कि ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी दे दी जाय और शेष सब भाई गृहस्थ-धर्म को छोडकर स्वर्ग प्राप्ति के लिए साधना करे।

इस निश्चय के अनुसार 98 पुत्रो ने दीक्षा ले ली और सासारिक महत्त्वाकाँक्षाओ को छोड दिया। ज्येष्ठ पुत्र भरत को राजगद्दी मिल गई लेकिन उसका सौतेला भाई वाहुवलि इस व्यवस्था का विरोधी था। उसने यह आपत्ति उठाई और कहा—जो ज्येष्ठ होने के साथ-साथ श्रेष्ठ भी हो उसे राजगद्दी मिलनी चाहिये—यह बात बिलकुल ठीक है, लेकिन यदि ज्येष्ठ श्रेष्ठ न हो तो आयु की अपेक्षा, योग्यता की ओर ही ध्यान देना चाहिये। क्योकि राज्य प्रजा के हित के लिये होता है, राजा के आमोद-प्रमोद के लिये नही। भरत भले ही ज्येष्ठ हो, लेकिन मै उनकी अपेक्षा सव प्रकार से श्रेष्ठ हूँ और राजगद्दी मुझे ही मिलनी चाहिए।

जव यह विवाद खडा हुआ तो प्रत्येक को अपनी-अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए कहा गया। राजा मे दृढता का होना परमावश्यक है। इसके लिए दोनो की परीक्षा की गई। इस परीक्षा मे वाहुवलि श्रेष्ठ प्रतीत हुये। राजा मे अपने वाक्चातुर्य से जनता को मुग्ध करने की शक्ति होनी चाहिये—

इम परीक्षा मे भी वाहुवलि श्रेष्ठ निकले। राजा मे बुद्धिमत्ता और प्रत्युत्पन्न मतित्व होना चाहिये—इस प्रतियोगिता मे भी वाहुवलि विजयी हुए। सामन्तो को अपने अधीन करके साम्राज्य स्थापित करना चक्रवर्ती राजा का प्रधान गुण है इस कसौटी पर भी वाहुवलि भरत की अपेक्षा खरे निकले। राजा मे दूरदर्शिता तो होनी चाहिये—इस गुण मे भी वाहुवलि ने भरत की अपेक्षा अपनी ही योग्यता सिद्ध की। अव रहा युद्ध। राजाओ के पारस्परिक द्वेष के कारण प्रजा की भी हानि हो यह न्याय सम्मत नही है। यह सोचकर सभी दरवारियो ने सैन्य युद्ध के लिए मना किया। उस समय के लोग इस वात को अच्छी तरह जानते थे कि जव दो भाईयो के पक्ष को लेकर प्रजा मे दो दल हो जाते है तो समस्त जाति का नाश हो जाता है। इसलिए द्वन्द्व युद्ध का निश्चय किया गया। फिर क्या था ? वाहु-युद्ध, दण्ड (गदा) युद्ध, मल्ल युद्ध आदि अनेक प्रकार के युद्ध हुए। इसमे तो वाहुवलि आसानी से विजयी होने वाले थे ही। अव सव प्रकार से वाहुवलि की श्रेष्ठता सिद्ध हो गई। लोग उनकी जय वोलने लगे। यह देख कर भरत खीझ गये। उन्होने आपा (अपनापन) भूल कर भाई को मार डालने का इरादा किया और वाहुवलि पर प्रहार कर दिया। भरत की राज्य लिप्सा यहाँ तक वढ जायगी इसका किसी को खयाल तक न था। तेजस्वी वाहुवलि इस कठिन प्रहार का वदला लिए विना कैसे रह सकते थे ? उन्हो ने पूरे जोर से मुट्ठी वाँधी और भरत पर प्रहार करने के लिए हाथ उठाया। लोगो के हृदयो मे हाहाकार मच गया और सवको ऐसा लगा कि भरत अव वच नही सकते। वाहुवलि को अपनी विजय पर विश्वास तो था पर प्रहार करते समय विजय की लालसा मे वे विवेक को न भूले। यदि वे दुर्वल होते तो क्रोध से अन्धे हो जाते। लेकिन उन्हे अपनी शक्ति का पूर्ण ज्ञान था। इसलिये उन्हो ने शीघ्र ही विजय प्राप्त करली। उन्होने क्रोध पर ही विजय प्राप्त करली। उन्होने सोचा—मेरी योग्यता और श्रेष्ठता तो सिद्ध हो ही चुकी है। अव भाई यदि राज्य-लिप्सा के कारण क्षुद्र वन गया है तो मै उसके साथ नीच क्यो वनूँ ? भाई को मार कर राज्य-सचालन करते हुए मैं प्रजा के सामने क्या आदर्श रखूगा ? जाने-दो ऐसे राज्य को और छोडो इस बन्धु-हत्या को।

जिस जोर से उन्होने मुट्ठी वाँधी थी उसी जोर से उसे खोलते हुए उन्होने केशलोच (अपने हाथ से सिर और शरीर के वाल उखाडना) किया और त्याग की दीक्षा ली। भरत निर्भय हो कर राज्य करने लगे और वाहुवलि ने

वैराग्य-मार्ग ग्रहण कर लिया। रजोगुण से सतोगुण प्रकट हो गया। महत्वाकांक्षा की अपेक्षा भ्रातृ-प्रेम, स्वजन-वात्सल्य और विरक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध हो गई।

गुरु की शरण में जाने से आध्यात्मिक मार्ग में सरलता हो जाती है। वाहुवलि के लिए भी अठ्यानवे भाइयों द्वारा ग्रहण किये मार्ग पर जाना और भगवान् ऋषभदेव की शरण लेना, स्वाभाविक मार्ग था, परन्तु स्वाभिमानी वाहुवलि को यह असगत जान पडा। छोटे भाइयों ने पहले दीक्षा ले ली थी, इसलिए वे वन्दनीय हो गये थे। वाहुवलि को दीक्षा लेकर उनकी वन्दना करना अनिवार्य था, यह उनसे कैसे हो सकता था? श्रेष्ठत्व तो चला ही गया, अब रहा ज्येष्ठत्व भी खो दिया जाय, यह नही हो सकता। उससे तो अपनी तपस्या के वल पर केवल-ज्ञान प्राप्त करना कही अधिक अच्छा है। वाहुवलि ने यह निश्चय कर लिया। इस प्रकार साधना के आरम्भ मे ही दर्प और अहकार ने अपना अधिकार जमा लिया।

वाहुवलि ने इस निश्चय पर कठिन तपस्या आरम्भ कर दी। वे जहाँ खडे थे, वहाँ दीमक मिट्टी के ढेर लग गये। उसमे वडे-वडे काले सर्प आ-आकार रहने लगे। माधवी लता ने दीमक-मिट्टी के इस ढेर को घेर लिया और वाहुवलि के पैरो तथा हाथो मे लिपट गई। ससार इस अपूर्व तपस्या को देख कर दग रह गया पर वाहुवलि को केवल-ज्ञान की प्राप्ति न हुई। वे आकुल हो कर अपनी तपस्या को और भी उग्र करने लगे। अन्त मे उन सौ भाइयो की दो प्यारी वहिनें—ब्राह्मी और सुन्दरी जो स्वय त्याग की दीक्षा ले चुकी थी—वहाँ आ पहुँची। स्त्री-हृदय परिस्थिति की गहराई को झट पहचान लेता है सो उन वहिनों ने भाई से प्रेम के साथ कहा—"वीरा गज से नीचे उतरो" अर्थात्—हे प्यारे भाई, हाथी से नीचे उतरो। वाहुवलि को यह सुन कर आश्चर्य हुआ। उन्होने सोचा—"मैं तो इतने दिनो से कठिन तपस्या कर रहा हूँ और वहिने कह रही है कि मैं हाथी से नीचे उतरू।" क्षण भर वाद ही उन्हे पता चला कि वे अभिमान और अहकार के हाथी पर चढे हुए थे, जहाँ सभी प्रकार के सस्कारो से मुक्त होने का निश्चय किया गया है, वहाँ श्रेष्ठ अथवा ज्येष्ठ होने का अभिमान रह नही सकता। जहाँ सम्पूर्ण विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करना है, वहाँ अठयानवें भाइयो से ईर्ष्या कैसी? वाहुवलि की वहिने ही उसकी गुरु वनी। उन्होने अहकार को छोड कर सभी त्यागी भाइयो के चरण छुए और जिस स्थान पर वे खडे-खडे तपस्या कर रहे थे, वहाँ से पैर उठाने से पहले ही उन्हें केवल-ज्ञान (सर्वज्ञता) हो गया। इस प्रकार वह वीर पुरुष अपनी तपस्या मे सफल हो गया।

बाहुबलि ने भावोचित रजोगुण का पूर्ण उत्कर्ष दिखा कर अपने तेज को प्रकट कर दिया और उसमे अन्तर्हित प्रकाश को पहचान कर वे स्वय सात्विकता के शिखर पर चढ गए। सबसे नीचे की सीढी से ऊपर चढने मे कोई बुराई नही है। बुराई तो शिखर की ओर जाते हुए बीच मे रुक जाने मे है। निस्सन्देह प्रत्येक प्रतापी पुरुष बाहुबलि के जीवन की ओर अवश्य आकर्षित होगा, क्योकि करनी करके नर से नारायण हो जाने वाला यह उदाहरण प्रत्येक मनुष्य को ऊचा उठाने वाला है। बडे-बडे शिल्पकारो ने बाहुबलि की विशाल मूर्तियाँ बनाई है। इन मूर्तियो मे बाहुबलि के जीवन के एक-एक प्रसग को चित्रित खोद कर अकित करने मे कारीगरो ने अपनी सारी शक्ति लगाई है। इस प्रकार की दो सुन्दर मूर्तियाँ दक्षिण भारत मे अब भी मौजूद है। इन्ही मूर्तियो के सौन्दर्य के कारण ही इनका नाम 'गोमटेश्वर' पडा है।

मैं सन् 1925 मे कारकल गया था। वहाँ की पहाडी पर बाहुबलि की 47 फीट ऊची एक मूर्ति देखी थी। इस वर्ष जुलाई के महीने मे श्रवण-बेलगोल की 57 फीट ऊची मूर्ति भी देख आया हूँ। कारकल पश्चिमी घाट पर मगलूर और उडपी-मालपे के कोने मे है, जब कि श्रवणबेलगोल मैसूर राज्य के हासन जिले मे चन्द्रगिरि और विंध्यागिरि के बीच बसा हुआ है। श्रवणबेलगोल की मूर्ति विंध्यागिरि की चोटी के पत्थर मे से ही काट कर बनाई गई है। जब कि कारकल की मूर्ति पहाडी से भिन्न प्रकार के पत्थरो मे से बना कर, पहाडी के ऊपर दूर से लाकर खडी की गई है। यह सब किस प्रकार किया गया होगा, इसका अन्दाज लगाना भी आज मुश्किल है। श्रवणबेलगोल के दर्शनो की याद अब भी ताजी है।

२. श्रवण-बेलगोल

हिन्दुस्तान मे मैसूर राज्य को विशेष अर्थो मे स्वर्ण-भूमि कहा जा सकता है। उरगाव कोलार की सोने की खानो मे प्रति वर्ष करोडो रुपये का सोना निकलता है, इस वजह से मैसूर राज्य को स्वर्ण-भूमि कहा ही जा सकता है। लेकिन वहाँ की सरस तथा उपजाऊ भूमि, स्थान-स्थान पर चमकते हुए तालाब, बीच-बीच मे मस्तक ऊचा कर वर्षा को पकड ले आने वाले छोटे-बडे पहाड और उनमे वे अमृत-जल पाने वाली नदियाँ, प्रात और सध्या के रग-बिरगे बादल और वहाँ के हृष्ट-पुष्ट तथा आतिथ्य-सत्कार करने

वाले किसान, इन सवको देख कर भी मैसूर को स्वर्ण-भूमि ही कहना पडेगा। मैसूर राज्य के दो वडे-वडे भाग है। पश्चिमी भाग को पालनाड अर्थात् पहाडी प्रदेश कहते है और पूर्वी भाग को मैदानी। दोनो भागो मे छोटे-वडे सुन्दर मन्दिर और तीर्थ-स्थान फैले हुए है। प्राचीन समृद्धि, सुव्यवस्था, सात्विक पुरुषो के भक्ति और जनता के धार्मिक उत्सव आदि के साक्षी रूप ये स्थान मैसूर राज्य की ऐतिहासिक सम्पत्ति है। लेकिन इनमे भी हासन जिले मे स्थित तीन स्थान मैसूर को भारत-विख्यात ही नही, विश्व-विख्यात भी वना देते हैं। उत्कल प्रान्त मे पुरी, भुवनेश्वर, कोनार्क आदि स्थान, आबू के पहाड मे देलवाडा के मन्दिरो, नर्मदा के किनारे के असख्य देवालय तथा तामिलनाड मे आज भी खडे भव्य मन्दिरो की स्थापत्य-समृद्धि के कारण समस्त विश्व का ध्यान हमारे देश की ओर अधिकाधिक खिचता चला आ रहा है। उनमे भी कलारसिको के कथनानुसार, अजता की चित्रकला और वेलूर हलेवीड का मूर्ति-विधान सारे समार मे अद्वितीय है। वेलूर और हलेवीड हासन जिले मे एक दूसरे से दस-वारह मील के फासले पर है। किसी समय ये दोनो स्थान राजधानी के रूप मे प्रसिद्ध थे, आज भारत की कलाधानी के रूप मे उत्तरोत्तर प्रसिद्धि पा रहे हैं। दोनो स्थानो के आस-पास जैन मन्दिर हैं, जिन्हें 'वस्ती' कहते है। सभी वस्तियाँ दिगम्वर (एक भेद) सम्प्रदाय की हैं और उच्च कोटि की कारीगरी व्यक्त करती है। इस प्रदेश के गाँव-गाँव मे विखरी मूर्तियाँ और कारीगरी से खण्डित पत्थरो को इकट्ठा करके किसी भी राष्ट्र के गर्व करने योग्य अद्भुत—सग्रहालय (Musıum) तैयार हो सकता है। लेकिन यह काम इतना कठिन और व्यय-साध्य है कि उसके लिए छोटे और साधारण स्थिति के राजाओ की तो हिम्मत ही नही हो सकती। वेलूर के मन्दिर मे मैसूर राज्य की ओर से विशेष विजली का प्रवन्ध किया गया है, जिसके कारण उसकी कला को भली प्रकार देखने की सुविधा हो गई है। परन्तु इन मन्दिरो का सक्षेप मे वर्णन नही किया जा सकता। आज तो मुझे हासन से पश्चिम मे, मोटर से चार घण्टे का रास्ता पार कर आने वाले श्रवणवेलगोल नामक स्थान की ही चर्चा करनी है और उसमे भी विंध्यागिरि पर स्थित श्री गोमटेश्वर की विशाल मूर्ति की।

महिपमण्डल अथवा मैसूर का उल्लेख अशोक के शिलालेखो मे मिलता है। ऐसा कहा जाता है कि अशोक के दादा चन्द्रगुप्त अपने गुरु भद्रवाहु को लेकर जीवन के अन्तिम दिन विताने के लिए यहाँ आये थे। अपने राज्य मे वारह वर्ष का] अकाल देख कर और स्वय को प्रजा के वचाने मे असमर्थ

पाकर, उन्होने राज-पाट छोड दिया और पुत्रो को राज्य-भार सौप कर, गुरु के साथ, जैनियो की इस तपोभूमि मे रहना पसद किया। गुरु ने जब देखा कि वृद्धावस्था आ रही है तो सलेखना (समाधि-मरण—मरण समय सब कुछ त्याग देना) द्वारा शरीर को छोड दिया। चन्द्रगुप्त ने बारह वर्ष तक गुरु पादुकाओ की पूजा की और अन्त मे स्वय ने भी सलेखना कर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

कुछ लोगो का कहना है कि यहाँ आने वाले चन्द्रगुप्त अशोक के दादा मौर्यवशी नही, प्रत्युत समुद्रगुप्त के द्वितीय पुत्र चन्द्रगुप्त थे। इस मान्यता के पीछे जबर्दस्त ऐतिहासिक प्रमाण हो सकते है। इतने पर भी यदि यह मान लिया जाय कि ये मौर्य ही थे तो अशोक के शिलालेखो मे उसके दादा का उल्लेख क्यो नही मिलता? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। चन्द्रगुप्त ने जैनधर्म की दीक्षा ली, इससे अशोक ने उसकी उपेक्षा की अथवा वह यहाँ आया ही नही, यह कौन कह सकता है?

चन्द्रगिरि और विंध्यागिरि दोनो पहाडियाँ इतनी पास-पास हैं और इनके आस-पास का प्रदेश इतना सुहावना है कि कवि-हृदय यहाँ आकर निवास किये बिना नही रह सकता। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि ससार से पीडित और जीवन से उदासीन साधुओ ने सल्लेखना के लिए ऐसा सुन्दर-स्थान चुना। जिस प्रकार भैरवघाटी आत्म-हत्या के लिए पसद की जाती है, उसी प्रकार असख्य जैनियो ने चन्द्रगिरि को सलेखना के लिए पसद किया था। आज भी कितने ही जैन दिगम्बर साधु इस पर्वत पर आकर अपने अन्तिम दिन पूरे करते है।

इन दोनो पहाडियो के बीच मे एक सुन्दर, स्वच्छ और चौरस तालाब है। इसी का नाम बेलगोल अथवा सफेद तालाब (धवल सरोवर) है। श्रमणो (साधुओ) के यहाँ रहने के कारण ही इसका नाम श्रवणबेलगोल पडा होगा और आगे चलकर लोगो ने इसी को श्रवणबेलगोल कहना पसद किया होगा। बेलगोल का अर्थ सफेद बैंगन भी होता है और गोमटेश्वर के अभिषेक के साथ सम्बन्ध रखने वाली एक भक्त बुढिया के साथ बैगन का सम्बन्ध है। जो हो, श्रवणबेलगोल जैनियो का एक बडा तीर्थ-स्थान है।

हासन से हम दोपहर को रवाना हुए। पाँच-छ आदमियो का सग था। रवाना होने मे काफी वक्त लग गया। तेईस मील की दौड पूरी कर हमारी बस (मोटर-लारी) चन्नरायपट्टण आ पहुँची। वहाँ से आठ मील

आगे चल कर हम विंध्यागिरि की तलहटी मे आ गए। गोमटेश्वर की विशाल मूर्ति के सम्बन्ध मे पहले से ही सुनने के कारण मै तो हासन से ही उसकी तलाश मे था। कोई चौदह मील की यात्रा शेष थी कि चन्द्रगिरि और विंध्यागिरि दिखाई देने लगे। साथ ही शिखर (चोटी) पर एक अस्पष्ट विन्दु अथवा झण्डेर के सत स्तभ की चोटी जैसा भी एक पत्थर दिखाई देने लगा। मुझे विश्वास हो गया कि यही बाहुबलि है और मैंने शीघ्र दोनो हाथ जोडकर प्रणाम किया।

कारकल मे भी वाहुवलि की मूर्ति है वह भी 47 फीट से कम ऊची नही है। उसके आस-पास बाँध-काम न होने से वह बहुत दूर-दूर से दिखाई देती है। श्रवणबेलगोल के आस-पास बहुत दर्शनीय स्थान है। यदि हमारे पास समय होता तो हम सबको देखे बिना न रहते, लेकिन सूरज ढल रहा था। फिर यह सोचकर कि यदि सब देखने का लोभ रहेगा तो कुछ ध्यान से नही देख पायेगे। हमने निश्चय किया कि केवल गोमटेश्वर देखकर ही लौट आयेगे। हम छोटी-छोटी छ सौ सीढियाँ चढ कर चार सौ सत्तर फीट ऊची पहाडी पर पहुँचे। जीने के द्वार पर ही एक सुन्दर दरवाजा है। इसका नाम गुल्लकायजी वागलु है। कन्नड भाषा मे गुल्लकायजी का अर्थ है—बैंगन, बहन अथवा माता और बागलु का अर्थ है—दरवाजा।

अब इस गरीब बैंगन-मैया का भी थोडा वत्तान्त सुन लीजिए। जिस समय चामुण्डराय ने गोमटेश्वर की इस मूर्ति का निर्माण कराया और सन् 1208 मे तीसरी मार्च को रविवार के दिन इस मूर्ति की प्रतिष्ठा कराने का निश्चय किया, उस समय गुल्लकायजी नाम की एक बुढिया भी मूर्ति के अभिषेक के लिए एक फल के छिलके मे थोडा सा गाय का दूध ले आई और लोगो से अनुनय-विनय के साथ कहने लगी कि मुझे भी अभिषेक के लिए इतना-सा दूध ले जाने दो। बेचारी बुढिया की ओर कौन ध्यान देता ? वह रोज सवेरे गाय का ताजा दूध लाती और शाम को गोधूलि समय निराश होकर लौट जाती। महीने पर महीने इसी प्रकार बीत गये और अभिषेक का दिन आ गया। अभिषेक के लिए बास और लकडी का ऊँचा मचान बनाया गया। चामुण्डराय राजा का प्रधान सेनापति लोगो की श्रद्धा का पात्र और स्वय भक्ति की मूर्ति, उसके होते हुए दूध की कमी कैसे रह सकती थी। लेकिन दूध के घडे पर घडे उँडेले जाने पर भी दूध और पचामृत मूर्ति की कमर तक न पहुँच सका। लोग घबराए। कुछ-न कुछ भूल अवश्य हुई है। दैव का प्रकोप है। अन्त मे बुद्धिमान लोगो को भूल मालूम हो गई। बैंगन मैया को दूध लेकर आने की आज्ञा दी गई और उसके पास के फल के छिलके का दूध वाहुवलि के मस्तक

पर चढाया गया। कितने आश्चर्य की बात थी कि वह दस तोले से भी कम दूध वढ कर वाहुवलि के मस्तक से पैर तक ही नही पहुँचा वरन् और भी आगे तक बहने लगा। लोगो ने अनुभव किया की गुल्लकायजी का हृदय निस्संदेह सच्चा भक्त-हृदय है। आदर और प्रतिष्ठा की भावना उनके हृदय मे है ही नही। चामुण्डराय ने देखा कि इतना श्रम, इतना व्यय और इतना वैभव एक छिलके पर दूध की भक्ति के आगे तुच्छ है। चामुण्डराय ने गुल्लकायजी की भी एक मूर्ति इस पहाडी पर स्थापित कराई और इस प्रकार अपनी विनम्रता प्रदर्शित की। हम आधी दूर गये थे कि वहाँ 'अखण्ड बागलु' नामक दरवाजा आया।

यह दरवाजा एक ही पत्थर से खोद कर यहाँ खडा किया गया है। यह भी हो सकता है कि कोई मोटा पत्थर इस जीने के वीच मे वाधा डालता हो और लोगो ने उसे हटाने या तोडने की अपेक्षा उसे ही खोद कर दरवाजा वना दिया हो। उस दरवाजे पर गजलक्ष्मी की प्रतिमा खोदी गई है। लक्ष्मीजी पद्मासन पर वैठी हुई है और दोनो ओर के हाथी घडो से उन पर अभिषेक कर रहे है। दूसरे स्थान पर लक्ष्मी जी के एक ओर हाथी और दूसरी ओर गाय अथवा सवत्स-गाय खोदी गई है। इसके पौराणिक रहस्य को भी समझ लेना चाहिए।

हम सीढियाँ पूरी करके दीवाल के नीचे आ पहुँचे। यहाँ हम भीतर जाकर वाहुवलि की दिगम्वर मूर्ति के दर्शन करने के लिए अधीर हो रहे थे, फिर भी हम ऊपर से पीछे का तालाव और सामने के चन्द्रगिरि को देखने का लोभ संवरण न कर सके। हवा सनसना रही थी। यदि उसे हम लोगो को उडा देने का अवसर मिलता तो वह कभी न चूकती। सूरज देख रहा था कि वादलो के आँचल से हाथ फैला कर वह हमे सहला सकता है या नही ? और वर्षा स्वयं आकर हमे आश्वासन दे रही थी कि तुम घवराओ नही। तुम लोग जव तक दर्शन करके मोटर तक नही पहुँचते तव तक मै वरसने की नही।

हमने फिर चढना आरम्भ किया तो गुल्लकायजी बागले ने कहा—केवल दर्शक वनकर टूरिस्ट (यात्री) वन कर आगे मत जाना। हिन्दू हो, आत्मार्थी हो, श्रद्धालु हो, भक्त हो, तीर्थ यात्री वन कर जाना। मूर्ति मे व्यक्त होने वाले चैतन्य के दर्शन करके जाना।

आधे रास्ते पर थे कि अखण्ड वागलु (दरवाजा) कहने लगा—'शैव और वैष्णव, शाक्त और जैन सव भेद नाम मात्र के हैं— व्यर्थ है। भारत की सांस्कृतिक लक्ष्मी एक है, अखण्ड है, शक्तिशाली है। जिस दिन इस एकता का साक्षात्कार

होगा, उस दिन भरत-पुत्र बाहुवलि (जिसकी भुजाओं मे बल हो) जन्म लेगा और आत्म विजय द्वारा विश्व विजय करके विश्व कल्याण की स्थापना करेगा।"

इस सदेश द्वारा प्रेरणा के पख लगा कर हम ऊपर चढने लगे और इसी कारण वे कठिन सीढियाँ भी हमे सरल हो गई ।

३. चामुडराय की खोज

किसी राजपुरुष की माता धर्मनिष्ठ थी। रजोगुण मे से सतोगुण का उदय कैसे हुआ ? अभिमान के पत्थर मे से आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई ? ऐसी इस कथा को सुन कर उसके हृदय मे श्रद्धा का स्रोत उमड पडा। उसे लगा कि यदि वाहुवलि के दर्शन न हो तो यह जीवन व्यर्थ है। किसी से उसने यह भी सुना कि कही वाहुवलि की एक हजार हाथ ऊँची स्वर्ण मूर्ति है। उसने उस मूर्ति के दर्शन करने का सकल्प किया। पुत्र ने देखा कि यदि माता को जीवित रखना हे तो वाहुवलि की खोज किये विना छुटकारा नही। राजपुरुष क्षत्रिय था। भारी सेना लेकर चल पडा। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारो दिशाए खोज डालने का उसने निश्चय किया। लाखो मेरे सैनिक है, चारा दिशाओ मे फैला दूँगा। एक हजार हाथ की मूर्ति कहाँ तक छिपी रहेगी ! कभी न-कभी तो मिलेगी ही। मेरी माता की आँखे कृतार्थ होगी और मैं सुपुत्र कहलाऊगा।

सेना के साथ घूमता हुआ राजपुरुष दक्षिण मे आया। वहाँ उससे एक जैन मुनि ने पूछा—"हे शूरवीर, इतनी बडी सेना लेकर क्यो निकले हो ? किस प्रजा का सहार करना है ? कितने घरो मे हाहाकार मचाना है ? कितने हृदयो के शाप के भागी बनना है ?" राजपुरुष ने कहा—"इनमे से मुझे कुछ भी नही करना। मै तो मात्र गोमटेश्वर के दर्शन कराने आया हूँ। मेरी माता उनके दर्शनो के लिए विकल है।" साधु ने कहा—"वह मूर्ति है अवश्य, पर इस लोक मे नही। लाख-लाख यक्ष उसकी रक्षा करते है, चर्म-चक्षुओ से कोई उसके दर्शन नही कर सकता। लेकिन तुझे, बाहुवलि—गोमटेश्वर के दर्शन अवश्य कराऊगा। देखो, इस चन्द्रगिरि पर कितने ही जैन साधु तप करते है। इसके सामने वह विंध्यागिरि दिखाई देता है। उसी के शिखर पर बाहु-वलि खडे-खडे तप कर रहे है। दुनिया के दु खो से दु खी हो कर, करुणामयी आँखो से वे कह रहे है—"कामये दु खतप्ताना, प्राणिना आर्तिनाशनम्।" यदि इस चन्द्रगिरि के शिखर से तू एक सोने का बाण फेकेगा तो बाहुवलि की

मूर्ति वहाँ प्रकट हो जायेगी। राजपुरुष ने अपना रत्न-जडित धनुप हाथ मे लिया और उस पर तीन हाथ लम्बा सोने का बाण चढाया। बाण सनसनाता हुआ हवा मे चला। विंध्यागिरि का शिखर आया, पत्थरो की पपडियाँ खिरी (गिरी) और मैत्री, करुणा, प्रसन्नता तथा विरक्ति का प्रकाश प्रकाशित करता हुआ गोमटेश्वर का मस्तक प्रकट हुआ। राजपुरुष यह देख कर आनन्दातिरेक से विह्वल हो गया। उसकी माता की ओर से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। तत्काल अनेक मूर्तिकार वहाँ आ पहुँचे। प्रत्येक मूर्तिकार के हाथ मे हीरे की एक-एक छेनी थी। वे बाहुबलि के दर्शन करते और आसपास के पत्थरो का हटाते जाते। कन्धे प्रकट हुए, छाती निकली। भुजा और भुजा के ऊपर लिपटी माधवी-लता स्पष्ट दिखाई देने लगी। वे पैरो तक आए। नीचे पुरानी दीमक मिट्टी का ढेर था। इसमे से विकराल सर्प बाहर निकलते थे, लेकिन थे सब अहिंसक। मूर्तिकार ठीक पैरो पर आए, पैरो के नाखून चमकने लगे। पैरो के नीचे एक खिला हुआ कमल दिखाई दिया। उसे देख कर सेना सहित सब के मुख-कमल खिल गये। भक्त माता का हृदय-कमल भी खिल गया। अब उसे अधिक जीने की लालसा न रही। उसने कृतार्थ होकर अपने जीवन-रूपी कमल को वही प्रभु के चरणो मे समर्पित कर दिया।

आकाश से पुष्प-वर्षा होने लगी। सभी जय-जयकार करने लगे। वह मूर्ति कितनी सुन्दर थी ? दिगम्बर और पवित्र, मोहक और ज्वलन्त, तारक और उद्धारक। जितने आदमियो ने उस मूर्ति को देखा, मानो उन सभी का पुर्नजन्म हो गया। वे अब ससार को विचित्र दृष्टि से देखने लगे, जैसे उनके हृदय-प्रदेश से राग-द्वेष लोप हो गया हो। उनके हृदय मे नवीन सात्विक आनन्द का अनुभव होने लगा और वे सभी 'जय गोमटेश्वर" "जय-गोमटेश्वर" की ध्वनि करने लगे।

४. गोमटेश्वर के दर्शन

जिस समय हम बाहुबलि के दर्शन करने गये, उस समय हमने शास्त्र की मर्यादा के अनुसार बार-बार आपाद-मस्तक दर्शन किये। उस मूर्ति के नीचे दोनो ओर दो शिलालेख है। एक ओर प्राचीन नागरी लिपि मे और दूसरी ओर प्राचीन कन्नड लिपि मे, लेकिन दोनो मे एक ही मराठी वाक्य लिखा है—'चामुण्डराये कविले'—चामुण्डराय ने बनवाया। मराठी भाषा के इतिहास लेखक कहते है कि मराठी भाषा मे लिखी पुस्तको और शिलालेखो मे यह वाक्य

सबसे पुराना है। आज भी उपलब्ध सामग्री के अनुसार मराठी भाषा का उद्घाटन इसी वाक्य के साथ हुआ। चामुण्डराय का पिता किसी देवी का भक्त होगा। इसीलिए उसने अपने पुत्र का नाम चामुण्डा माता के नाम पर चामुण्डराय रखा होगा। उस समय के इतिहास से यह भी व्यक्त होता है कि किसी शाक्त का पुत्र भी अहिंसात्मक मार्गी जैन-धर्म का उपासक हुआ था। मराठी भाषा के प्रारम्भ में लिखने के लिए इन दोनों लिपियों का समान प्रयोग होता होगा। और तब मराठी एवं कन्नड दोनों भाषाएँ सगी बहनों की तरह साथ रहती होंगी। इसीलिये तो ये शिलालेख इस प्रकार खोदे गए हैं।

चामुण्डराय राजपुरुष था। अपनी भाषा मराठी होते हुए भी वह प्रजा की दोनों लिपियों का प्रसार करना चाहता था। अपनी मधुर और भोली मराठी भाषा का ऐसा द्वि-विध दर्शन कर मैं गद्गद् हो गया। मराठी भाषा का उद्गम यही है, यह सोचकर मराठी भाषा की इस गंगोत्री में स्नान कर मैं पवित्र हो गया।

तदनन्तर मेरा ध्यान दीमक के घरोंदों से निकलने वाले सर्पों की ओर गया। यदि लोहे की तलवार में पारस मणि का स्पर्श हो जाए तो इस सोने की हुई तलवार का आकार भले ही तलवार रहे पर उससे किसी की हत्या नहीं हो सकती। यदि उसमें किसी पर प्रहार भी किया जाये तो वह प्रहार करने की अपेक्षा स्वयं ही नम जायगी और इस प्रकार अपना 'सोनापन' प्रकट कर देगी। उसी प्रकार कारुण्य-मूर्ति, अहिंसाधर्मी बाहुबलि के चरणों में स्थान प्राप्त करने के कारण भयंकर सर्प भी पूर्ण अहिंसक बन गये है और अपने फन फैला कर मानों दुनियाँ को अभय दान दे रहे हैं।

दृष्टि कुछ ऊपर बढी। वहाँ दोनों ओर दो माधवी-लताएँ बाहुबलि के सहारे अपना विकास करती दीख पड़ीं। जैसे धीरोदात्त नायक से कोमलांगी नायिका लिपट जाती है, उसी प्रकार इस वीर तपस्वी से माधवी-लता लिपटी हुई है। उस लता ने कहा—"इस तपस्वी की मैं क्या सेवा करूँ? मेरा काम तो केवल इतना ही है कि इसकी कठोर तपस्या को छिपा कर, इसमें से प्रकट होने वाली कोमलता और प्रसन्नता को दुनिया के लिए व्यक्त कर दूँ। बाहुबलि से मैं लिपट कर रह गई हूँ—यह ठीक है, लेकिन मैं उसके लिए बन्धन-स्वरूप नहीं हूँ। इस बन्धन-मुक्त मुक्तात्मा का हृदय कितना कोमल है, यह निर्देश करने के लिए मैं इसके पैरों से हृदय तक चढ आई हूँ।"

सासारिक शिष्टाचार मे फसे हुए हम उस मूर्ति की ओर देखते ही सोचने लगते है कि यह मूर्ति नग्न है। हम अपने हृदय और समाज मे तरह-तरह की गन्दी वस्तुओ का सग्रह करते रहते है, परन्तु उनके लिए न तो हमे घृणा होती है, न लज्जा। इसके विपरीत वाहर केवल नग्नता देख कर चौक उठते है और समझते है कि नग्नता मे अश्लीलता है। इसमे सदाचार के प्रति द्रोह है। यह सब लज्जास्पद है। यहाँ तक कि अपनी नग्नता से वचने के लिए लोगो ने आत्म-हत्या तक की है। लेकिन क्या नग्नता वास्तव मे हेय है? अत्यन्त अशोभन है? यदि ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसके लिए लज्जा आती। फूल नगे रहते है, पशु-पक्षी भी नगे ही रहते है, प्रकृति के साथ जिनकी एकता वनी हुई है, वे शिशु भी नगे ही फिरते है। उनको अपनी नग्नता मे लज्जा नही लगती और उनकी ऐसी स्वभाविकता के कारण ही हमे भी उनमे लज्जा जैसी कोई चीज नही दिखाई देती। लज्जा की वात जाने दीजिए। इस मूर्ति मे कुछ भी अश्लील, वीभत्स, जुगुप्सित, अशोभन और अनुचित लगा है - ऐसा किसी भी मनुष्य का अनुभव नही। इसका कारण क्या है? यही कि नग्नता एक प्राकृतिक स्थिति हे। मनुष्या ने विकारो का ध्यान करते-करते अपने मन को इतना अधिक विकृत कर लिया है कि स्वभाव से ही सुन्दर नग्नता उससे सहन नही होती। दोप नग्नता का नही, अपने कृत्रिम जीवन का है। वीमार मनुष्य के आगे पके फल, पौष्टिक मेवे और सात्विक आहार भी स्वतत्रतापूर्वक नही रखा जा सकता। यह दोप खाद्य पदार्थ का नही, वीमार की वीमारी का है। यदि हम नग्नता को छिपाते है तो नग्नता के दोप के कारण नही वल्कि मनुष्य के मानसिक रोग के कारण। नग्नता छिपाने मे नग्नता की लज्जा नही है, वरन् उसके मूल मे विकारी मनुष्य के प्रति दयाभाव है, उसके प्रति सरक्षण-वृत्ति है। ऐसा करने मे जहाँ ऐसी श्रेष्ठ (आर्य) भावना नही होती, वहाँ कोरा दम्भ है।

परन्तु जैसे वालक के सामने नराधम भी शान्त और पवित्र हो जाता है—वैसे ही पुण्यात्माओ तथा वीतरागो के सम्मुख भी मनुष्य, शान्त और गभीर हो जाता है। जहाँ भव्यता है, दिव्यता है, वहाँ भी मनुष्य दव कर शुद्ध हो जाता है। यदि मूर्तिकार चाहते तो माधवी-लता की एक शाखा को लिग के ऊपर से कमर तक ले जाते और नग्नता का ढकना असभव न होता लेकिन तव तो वाहुवलि ही स्वय अपने जीवन दर्शन के प्रति विद्रोह करते प्रतीत होते। जव वालक सामने आकर नगे खडे हो जाते हैं, तव वे कात्यायनी

व्रत करनी मूर्तियो की तरह अपनी नग्नता छिपाने का प्रयत्न नही करते। उनकी निर्लज्जता ही जब उन्हे पवित्र करती है, तब दूसरा आवरण उनके लिए किस काम का ?

जब मैं कारकल के पास गोमटेश्वर की मूर्ति देखने गया था, तब मेरे साथ स्त्री और पुरुष, बालक और वृद्ध सभी थे। हममे से किसी को मूर्ति के दर्शन करते समय अस्वस्थता का अनुभव नही हुआ। अचभा पैदा होने का प्रश्न ही नही था। मैंने अनेक नग्न मूर्तियाँ देखी है, परन्तु उनके दर्शन से मस्त मन विकारी होने की अपेक्षा निर्विकारी ही हुआ है। मैंने ऐसी भी प्रतिमाएँ तथा तस्वीरे देखी है जो वस्त्राभूषणालकृत होने पर भी केवल विकारोत्पादक तथा उत्तेजक जान पडी है। केवल एक मामूली-सी लगोटी लगाने वाला नागा साधु हमे वैराग्य का पूरा-पूरा अनुभव करा देता है, जब कि सिर मे पैर तक ढके हुए व्यक्ति की एक ही कटाक्ष और उसका तनिक-सा नखरा मनुष्य को अस्वस्थ बना कर पतित कर देता है।

नग्नता के प्रति हमारी दृष्टि और विकारो के प्रति हमारा रुख दोनो ही बदलने चाहिए। हम विकारो का भी पोषण करना चाहते है और विवेक की भी रक्षा करना चाहते है, यह कैसे हो सकता है ?

यद्यपि बाहुबलि बलवान हैं, फिर भी उनका शरीर यहाँ पहलवान जैसा नही दिखाया गया है। ऐसा करने की प्रवृत्ति तो यवन मूर्तिकार मे थी। हमारे यहाँ के मूर्तिकार तो जड द्वारा चैतन्य की सृष्टि करना चाहते थे। वे मनुष्य की पाशविक शक्ति के व्यीक्तकरण की अपेक्षा पाशविक शक्ति पर विजय होने वाले वैराग्य और आत्म-सयम की प्रसन्नता का भाव प्रकट करने के लिये अधिक प्रयत्न करते थे। बाहुबलि की कमर मे दृढता है, उनकी छाती विशाल है, सारी दुनिया का भार उठाना उनके लिए मामूली बात है। यदि वे कम्बुग्रीव होते, गूढजानु होते तो सम्पूर्ण मूर्ति अधिक शोभायमान होती—यह ठीक है, परन्तु यह छोटा और मोटा गला अनायास ही 'कॉलर' की शोभा देता है, और अपने ऊपर शोभित मस्तक के कौमार्य को भली प्रकार व्यक्त करता है।

सम्पूर्ण शरीर कटा हुआ, यौवनपूर्ण, कोमल और कातिमान है। ऐसी मूर्ति मे अगो के प्रमाण (Proportion) की रक्षा करना सयोग की ही बात है। एक ही पत्थर मे से खोदी हुई ऐसी सुन्दर मूर्ति ससार मे कोई दूसरी

नही है। मिश्र देश मे वडी-वडी मूर्नियाँ है, लेकिन वे ऐसी अकड कर वैठी है कि राजत्व के सव लक्षणो और चिन्हो से युक्त होते हुए भी ऐसी माल्म पडती है, मानो वलात् वैठने के लिए वाध्य की गई हो! यहाँ ऐसा नही है। इतनी वडी मूर्ति भी इतनी सलोनी और सुन्दर है कि भक्ति के साथ-साथ प्रेम की भी अधिकारी हो गई है।

वहुधा मूर्तिकार सम्पूर्ण मूर्ति को तो सुन्दर वना देते है, परन्तु जिसके द्वारा व्यक्तित्व का उभार दिखाया जाता है, उस चेहरे को नही वना पाते। इसलिए किसी मूर्ति को देखने समय मै उसकी मुखमुद्रा की ओर निराशा की अपेक्षा लेकर ही डरते-डरते देखता हूँ। अच्छी से अच्छी मूर्तियो मे भी कुछ न कुछ त्रुटि रह जाती है। दूध-शक्कर मे नमक की ककडी मिल ही जाती है। इस मूर्ति का सहज आगे आया हुआ अधरोष्ठ देख कर मन मे शका हुई कि अव मेरा उत्साह नष्ट होने वाला है। इसलिए विशेष ध्यान पूर्वक देखने लगा। आगे से देखा, वगल से देखा, छिद्रान्वेषी की दृष्टि से देखा और भक्ति की दृष्टि से देखा। किसी न किसी निर्णय पर तो आखिर पहुँचना ही था। जव-तक मैं मूर्ति के सौन्दर्य को देखता रहा, तव-तक कुछ निश्चय न कर सका। चित्त मे अनिश्चितता की अस्वस्थता फैलने लगी। परन्तु शीघ्र ही मैं सचेत हो गया और मैने पागल मन से कहा—"सौन्दर्य का तो यहाँ ढेर है, लेकिन यह स्थान सौन्दर्य खोजने का नही है। यदि मुख-मण्डन पर रूप-लावण्य हो, पर भाव न हो तो वह मूर्ति पूजनीय नही हो सकती। वह कुछ प्रेरणा ही नही दे सकती। यह मूर्ति यहाँ दुनियादारी की दीक्षा देने नही खडी है। इस मूर्ति से पूछो, यह स्वय तुमसे सव कुछ कह देगी।"

नजर वदली और उस मूर्ति की भावभगिमा की ओर ध्यान गया। फिर तो कहना ही क्या था? क्षण भर मे ही वैराग्य और कारुण्य का स्रोत वहने लगा। नही-नही, वैराग्य और कारुण्य का झरना झरने लगा और मन उसके प्रवाह मे नहा कर भव्यता के शिखर पर चढने लगा। एक आचार्य ने ऐसी ही किसी मूर्ति के दर्शन करते समय कहा है—यत्कारुण्यकटाक्षकान्तिलहरी प्रक्षालयत्याशयम्'—'जिसकी कारुण्यपूर्ण कृपादृष्टि के जल प्रवाह से हृदय के भाव धुल कर स्वच्छ हो जाते है।' इस वर्णन की यथार्थता का पूरा-पूरा अनुभव हमे यही हुआ। मूर्ति के मुख पर सहज विषाद है। दीर्घकाल तक मनुष्य की दुर्वलता, उसकी नीचता, निस्सार जीवन के प्रति उसका

मोह आदि देखकर मानव-जाति के प्रति अपार दु ख मूर्ति की आँखो और होठो मे समा गया है। इतना होने पर भी निराशा और खीझ का कही आभास तक नही मिलता। दुनिया तो ऐसी ही होती है, ऐसी ही है, इसीलिए तो उस के उद्धार का प्रश्न खडा होता है। मनुष्य की पापमय प्रवीणता अधिक बलिष्ठ है अथवा महापुरुषो, बोधिसत्वो, तीर्थंकरो और अवतारो की क्षमा तथा करुणा वृत्ति ? इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य को सदा एक ही तरीके से जो मिला है, वही उत्तर हमे इस मूर्ति की मुख मुद्रा से मिलता है।

नीचे लटकते हुए कान, शरीर-रचना के अनुपात की रक्षा नही करते परन्तु मूर्ति की प्रतिष्ठा बढाते है। यही क्यो, वे हमे सौन्दर्य दर्शन की दृष्टि भी देते है। इस मूर्ति की आँखें, इसके होठ, इसकी ठोडी, इसकी आँखो के ऊपर की भौंह और इसके सम्पूर्ण चेहरे का कारुण्य, सभी कुछ असाधारण रूप से सुन्दर है। आकाश के नक्षत्र जैसे लाखो वर्षो तक चमकते हुए भी सदैव नवीन रहते हैं, उषा वैदिक काल से लेकर आज तक जैसे अपने लावण्य और नवीनता की रक्षा करती आई है, उसी तरह एक हजार वर्ष से यहाँ खडी यह मूर्ति भी वैसी ही नवीन, वैसी ही सुन्दर और वैसी हो द्युतिमान है, धूप-हवा और पानी के कारण पीछे की ओर की पतली-पतली पपडी भले ही खिर गई हो, पर इससे मूर्ति का लावण्य नष्ट नही हो गया है। कहते है कि अमेरिका के किसी फण्ड के ट्रस्टी इस मूर्ति के पत्थर को जीर्ण होने से बचाने के लिए इसके ऊपर किसी प्रकार का मसाला लगाना चाहते थे, लेकिन जैनियो ने ऐसा नही करने दिया। उनका कहना है कि जब हजार वर्ष से यह मूर्ति ज्यो कि त्यो खडी है तो भगवान् की कृपा होगी तो दूसरे हजार वर्ष तक भी यह ज्यो की त्यो खडी रहेगी और यदि न रहेगी तो जिस स्थिति मे होगी उसी मे हम इसकी पूजा करेंगे। दूसरी ओर— रक्षा करने वाले लोग कहते है कि इस मूर्ति पर अधिकार भले ही जैनियो का हो परन्तु इस सारे ससार की अपूर्व सम्पत्ति है, शिल्पकला का यह अद्वितीय रत्न है, अशेष मानव-जाति की अमूल्य विरासत है। हम वार्निश चढा कर इस मूर्ति को खराब नही करना चाहते। मूर्ति तो जैसी है, वैसी ही रहेगी, इसके प्रभाव मे तनिक भी कमी न आयेगी। इस मे जरा-सा भी और परिवर्तन न होगा। इसकी रक्षा करते हुए ही हम इसकी आयु बढाना चाहते है। वैज्ञानिक उपायो द्वारा, जहाँ तक हो सके वहाँ तक हमे इस मूर्ति की रक्षा करनी चाहिये। अन्यथा प्रभु के द्वारा प्रदत्त विज्ञान का हमारे लिए क्या उपयोग है ? एक बार तो विज्ञान का सदुपयोग होने दीजिये।

दोनं ओर से कहने के लिए काफी है। दोनो ओर की दलीलो पर विचार करते-करते नजर फिर गोमटेश्वर की ओर गई। देखता हूँ तो मूर्ति, मूर्ति ही नही रह गई। स्वय गोमटेश्वर ही मूक वाणी मे कहने लगे —'कितने नीच हो तुम ? मैंने वैराग्य की साधना की है, और तुम इस मूर्ति को कृपा की दृष्टि से देखते हो ! इसकी सुन्दरता पर मुग्ध होते हो ! मैंने तो क्षण भर मे सारे ससार का चक्रवर्तित्व छोड दिया और तुम इस पत्थर की विरासत को भविष्य की पीढियों के लिए सुरक्षित रखना चाहते हो ! तुम आधुनिक भौतिकवादी इस पत्थर के रूप-लावण्य की उपासना करते हो और वे सनातनी जैन मेरी जीवन-कथा पर मुग्ध हैं और मेरे नाम पर रचे गये शास्त्र-वचनो के शब्दार्थ मात्र से चिपके हुए है। मेरे जीवन का ज्ञान इनको बहुत ऊँचा लगता है, इसलिए पूजा का लालच देकर मुझे, अपने जितना नीचा लाने का प्रयत्न करते रहते है। तुम दोनो एक से हो। अपनी इस चर्चा को एक ओर रखो। वैराग्य का सदेश सुनाते, सयम की शिक्षा देते मैं नौ-सौ इक्कीस वर्ष से तपस्या कर रहा हूँ और तुम्हारे ऊपर कोई असर नही होता ? तुम दिन-दिन अपने कल्याण मार्ग से दूर होते जा रहे हो। क्या तुम नही देखते कि इसी कारण मेरे मुख पर विषाद का भाव गहरा होता जा रहा है ? तुम सर्दी-गर्मी, हवा और बरसात से मेरी रक्षा करना चाहते हो, लेकिन तुम्हारी बेहोशी और पागलपन की बढती मात्रा को देख कर मेरे मुँह पर जो दु ख, ग्लानि और विषाद अधिकाधिक बढता जा रहा है, इससे मेरी रक्षा करने के लिए तुम क्या करने के लिए तैयार हो ? उसकी चर्चा करो, इसकी चिंता करो, विचार करो। पत्थर तो किसी न किसी दिन चूर्ण होता ही है। जो मूर्ति है वह तो कभी न कभी नष्ट होगी ही, लेकिन जो अब तक अवसर मिला उसका तुमने क्या उपयोग किया ? इस पत्थर की मूर्ति की रक्षा करनी हो तो भले ही करो। इसके बनाने वाले कारीगरो के प्रति यह तुम्हारा कर्त्तव्य है। परन्तु तुम्हारा मुख्य धर्म तो, जो बोध मुझे हुआ है और जिससे मेरा जीवन सफल हुआ है, उसकी परम्परा को अखण्डित या अविचलित बनाए रखना है। यही नही, यदि तुम्हारे बाद भी हजारो लाखो वर्ष तक यह मानव जीवन की परम्परा चले तो उन सब मनुष्यो को--अशेष सत्वो को मोक्ष का ज्ञान—केवल ज्ञान और मोक्ष की साधना का धर्म भी सुलभ हो जाय, इसका विचार करना भी तुम्हारा कर्तव्य है। यदि ऐसा हुआ तो निश्चय ही प्रत्येक का जीवन—कला, लावण्य और आनन्द से पूर्ण हो जायगा।"

जैन समाज से परिचय

जैन समाज के साथ मेरा परिचय

•

जैनेतर

•

हिन्दू की दृष्टि से जैनधर्म

•

समस्त हिन्दू

जैन समाज के साथ मेरा परिचय*

जैनो के सामने खडे होकर जैन समाज या जैन धर्म के साथ का अपना परिचय बताना कोई सरल काम नही है। मैं तो अंग्रेज मनीषी एडमंड-बर्क के मत का हूँ कि किसी भी जाति, समाज अथवा राष्ट्र के बारे मे सार्वत्रिक सिद्धान्त बनाये ही नही जा सकते। प्रत्येक सस्कृति की विशेषताएँ हो सकती हैं, परन्तु समाज मे तो अनेक प्रकार के लोग होते है। अमुक जाति या वर्ग के सब लोग अच्छे और अमुक के बुरे जैसा भेद किया ही नही जा सकता। मनुष्य जाति सब जगह एकसी ही है।

और, जैन समाज के साथ मेरा परिचय भी कहाँ कितना व्यापक है ? मैं तो कुछ मित्रो को ही पहचानता हूँ। मैंने मुसाफिरी खूब की है। लेकिन वह तो नदियो और पर्वतो को, तीर्थों और मदिरो को, गाँवो और उनकी परेशानियो को देखने के लिए की है। समाज की विविध प्रवृत्तियो के साथ मेरा परिचय सीमित ही है।

परन्तु, मनुष्य का परिचय कम हो या अधिक, उसके साथ उसे अपना अभिप्राय तो बनाना ही पडता है, क्योकि अभिप्राय बनाये बिना जीवन मे व्यवहार सम्भव ही नही होता। परन्तु ऐसा अभिप्राय शब्दो मे व्यक्त नही किया जा सकता। अपने मन मे भी उसका विश्लेषण नही किया जा सकता। अभिप्राय निश्चित हो तो भी वह अव्यक्त ही रह सकता है।

अपने अनुभव के आधार पर मैं इतना कह सकता हूँ कि कोई भी समाज अपने लिए श्रेष्ठ होने का दावा नही कर सकता। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि अन्य जातियो से अधिक अहिसक होने का दावा भी जैनो को नही करना चाहिए। तफसीलो मे या रीति-रिवाजो मे भले ही भेद हो, लेकिन गुजरात की सभी जातियाँ समान रूप से अहिसक है। आप चाहे तो इतना दावा जरूर कर सकते हैं कि जैन धर्म के प्रचार के कारण और आपके सहवास के कारण लोगो मे इतनी अहिंसा आई है। ऐसे दावे मे तथ्य जरूर है।

---

*ता 27–8–29 को जैन युवक सघ, बम्बई मे दिया हुआ भाषण।

किसी भी व्यक्ति या समाज के वारे मे वोलते समय एक और असुविधा भी वाधक होती है। अगर गुण वताये जाय तो वह खुशामद अथवा ऊपरी शिष्टाचार माना जाता है, मानो मनुष्य दूसरो के दोप वताते समय ही सच वोलता हो। और, दोप वताते समय मनुष्य तटस्थ वुद्धि रखे तो भी कोई उस पर विश्वास नही करता। मेरे जितने भी जैन मित्र हैं उनकी उदारता और सहिष्णुता पर मैं मुग्ध हूँ। कट्टर जैन समाज मे उनकी प्रतिष्ठा कितनी है, यह मैं नही जानता। किन्तु मेरी दृष्टि मे वे मित्र अहिंसा के सच्चे उपासक है। जैनो की सकुचितता के वारे मे मैंने वहुत कुछ सुना है वे दान करेंगे तो वह उनकी अपनी जाति तक ही मर्यादित रहेगा, मदद करेंगे तो वह अपनी जाति के नौजवानो की शिक्षा के लिए ही होगी, फड एकत्र करेंगे या छात्रालय खोलेंगे तो भी वह अपनी जाति के प्रति रही भावना के कारण ही होगा। इस विषय मे मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मेरा अनुभव इससे भिन्न है। मैं जिस राष्ट्रीय विद्यापीठ मे काम करता हूँ, उसका विशाल भवन एक जैन सज्जन ने वनवाया है, समस्त धर्मों के धर्मग्रन्थो से अहिंसा शास्त्र की शोध करने की सुन्दर सुविधा एक अन्य जैन सज्जन ने वहाँ कर दी है। देश की दुर्दशा की दवा के रूप मे हमने अभी-अभी ग्राम-सेवा की जिस योजना पर अमल शुरू किया है, उसका आर्थिक वोझ भी एक उदार हृदय वाले जैन सज्जन ने ही उठा लिया है। ऐसे कितने उदाहरण मैं आपके सामने रख सकता हूँ।

परन्तु आप कहेगे कि 'प्रत्येक जाति मे ऐसे उदार सज्जन हो सकते है, आप एक जाति के नाते हमारे कुछ दोप वताइये।' मैं दोप वता सकू इतना निकट परिचय अभी जैन समाज के साथ मेरा नही है। किन्तु जो शकाये मेरे मन मे उठी है उन्हे ही यहाँ प्रश्न के रूप मे पूछ लूं।

गुजरात के जैन अधिकतर गाँवो मे रहते हैं या शहरो मे ? यदि वे शहरो मे ही रहते हो, तो आपको इस विषय मे गहरा विचार करना चाहिये। जैन लोग अधिकतर खेती करते ही नही। क्या यह वात सच है ? यदि सच हो तो मुझे कहना चाहिये कि यह स्थिति गभीर है। यदि ऐसा ही हो तो मैं कहूँगा कि आपको अपने अस्तित्व के वारे मे और अपनी प्रतिष्ठा के वारे मे जितनी सावधानी रखनी चाहिये उतनी आप नही रखते। इतना ही नही, मैं तो यह भी कहूँगा कि आप अहिंसा-धर्म के पालन की पूरी तैयारी नही करते। आहार पर जीने वाला मनुष्य खेती से विमुख रहे, यह कोई साधारण दोप है ?

समाजशास्त्र के आज तक के अपने अध्ययन के आधार पर मैंने एक अचूक नियम ढूँढ निकाला है। जिस जाति ने जमीन के साथ अपना सीधा सम्बन्ध नही रखा है, उसने अपनी जडे कमजोर बना ली है। मै यह मानता हूँ कि जो अनाज हम खाते है वह कैसे और कहाँ उत्पन्न होता है, यह हमे अनुभव से जानना चाहिये। कही-कही खेती मे होने वाली हिंसा के कारण खेती से दूर रहने की बात कही जाती है। लेकिन मेरा अनुमान है कि जैन लोग ऐसा तर्क नही कर सकते क्योकि जैनमत ने तो किये हुए, कराये हुए और अनुमोदित कार्य मे समान दोप बताया है। जो अनाज खाया जाता है उससे सम्बन्धित खेती का दोप खाने वालो को लगता ही है। इतने पर भी यदि आपका धर्म इससे भिन्न कुछ कहता हो, तो मै लाचार हूँ। मुझे जो कुछ उचित लगता है उसे आपके सामने रखना मै अपना धर्म मानता हूँ।

धनी होने के दो ही मार्ग है (1) व्यापार उद्योग और (2) लूटपाट। व्यापारी व्यापार करते है और खूब धन इकट्ठा करते है। सरकार कानूनन् लूटपाट करती है और धन के भण्डार भरती है। सरकार से मेरा मतलब केवल अग्रेज सरकार से ही नही, आज की प्रत्येक सरकार यही काम करती है। वह व्यक्तियो को चूसती है और पशुबल से सर्वत्र राज्य चलाती है। व्यापार से समाज मे पैसा आता है, परन्तु जमीन के साथ सम्बन्ध रखे बिना समाज मे स्थिरता नही आती। पैसा शहर की चीज हे। इसमे कोई शका नही कि हमने शहर मे ही रहने के कारण अपने अनेक गुण खो दिये है। कुदरत के साथ सीधा सम्बन्ध तो गाँव मे रहने से ही स्थापित हो सकता है। जो मनुष्य गाँव मे रहता है वह ऋतु के परिवर्तनो का, खुली हवा का, खूली धूप, ठण्ड-गरमी और बरसात का, भव्य आकाश तथा पक्षियो के मीठे कलरव का अनुभव कर सकता है। जिसे खेती करनी होती है वह आकाश की ओर टकटकी लगाकर बैठता है और रात के तारो तथा दिन के सूर्य-प्रकाश के साथ एक रूप होकर जीवन बिताता है। आत्म-रक्षक वृत्ति का विकास करने के लिए भी खेती अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि किसान को कुदरत के तथा पशु-पक्षियो के अनेक आक्रमणो के सामने निरन्तर जूझना पडता है। इसी दृष्टि से मै कहता हूँ कि क्षत्रिय और क्षेत्रीय (किसान) मे मै बहुत भेद नही करता। गाव के किसानो ने सदा ही आत्म-रक्षक वृत्ति दिखाई है। शिवाजी ने और बारडोली के किसानो ने यह बात सिद्ध कर दिखाई है। जब सत्ताधारी का आदेश निकलता है कि 'you shall yield' (तुझे झुकना ही पडेगा) तब किसान ही यह उत्तर दे

सकता है कि 'I shall neither break nor bend' (मैं न तो टूटूँगा और न झुकूँगा)।

इस विश्व मे अहिंसा के समान दूसरा कोई धर्म नही है। इसे आप और मैं दोनो मानते है। फिर भी इस शरीर के साथ इस जीवन मे सपूर्णतया अहिंसा का आचरण करना किसी भी मनुष्य के लिए सभव नही हो सका। भविष्य मे भी कभी यह सभव नही होगा। हमारे जीवन का उद्देश्य अपनी वर्तमान प्रवृत्तियो मे हिंसा को यथासभव कम करना ही हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक हमारी सासारिक प्रवृत्तिया चलती रहे तब तक अहिंसा-धर्मियो को अहिंसा के नये-नये प्रयोग चालू रखने ही होगे, इसी प्रकार हमे यह भी देखना चाहिए कि खेती के काम मे अहिंसा की ओर बढने की कितनी सभावना है, क्योकि खेती को हम जितनी अहिंसक बना सकेंगे सम्पूर्ण जगत उतना ही अहिंसक बनेगा। बाहर के जीवन में हम अहिंसा की चाहे जितनी बातें करें, परन्तु जिस अन्न के बिना हमारा और जगत का जीवन एक दिन के लिए भी नही चलता, उसे उत्पन्न करने वाली खेती को जब तक हम विशुद्ध नही बनायेंगे तब तक अहिंसा-धर्म हमारे जीवन के मूल को स्पर्श नही कर सकता। सन्यासी समस्त प्रवृत्तियो से दूर रहकर स्वय बडा अहिंसक होने का दावा कर सकता है, परन्तु उसके दावे की बहुत कीमत नही है। अहिंसा-धर्म जीवित और जाग्रत विश्वधर्म है और उसकी पूर्णता हम जीवन मे कभी सिद्ध कर ही नही सकते। इस अहिंसा-धर्म का आचरण हिंसक मानी जाने वाली प्रवृत्तियो से दूर रह कर तथा दूर रहते हुए भी उन प्रवृत्तियो के फलो का लाभ उठाकर हम कभी करा ही नही सकते। मैं इस बात की ओर जैन मित्रो का खास तौर पर ध्यान खीचना चाहता हूँ कि हमारा कर्तव्य ससार की स्थिति के लिए अनिवार्य प्रवृत्तियो से हिंसा के तत्त्व को यथासभव दूर करने मे निहित है।

इस तरह विचार करने पर मैं यह मानता हूँ कि जैन समाज को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक, स्वास्थ्य-विषयक दृष्टि अथवा अत मे मोक्ष की दृष्टि से भी जमीन के साथ अपना सम्बन्ध बढाना ही चाहिये। मैं यह कहने की इजाजत लेता हूँ कि जब तक जैन लोग ऐसा नही करेंगे तब तक उनकी प्रतिष्ठा स्थिर भूमि पर टिकी हुई नही मानी जा सकती।

जैन समाज के साथ मेरा बहुत गहरा अथवा विस्तृत परिचय नही है। मेरा परिचय है पेड-पौधो और पशु-पक्षियो के साथ तथा जिन लोगो की सेवा

का मै सदा लाभ उठाता रहता हूँ, उनमे से कुछ गरीब भाइयो के साथ। मेरे जीवन का मुख्य कार्य है शिक्षा। विद्यापीठ, मेरे साथी, मेरे विद्यार्थी और मै—यही मेरी दुनिया है। इन सबके होते हुए भी मुझे जो थोडे से जैन मित्र मिले है, वे वडे अच्छे—प्रेमल, उदार और पूरे सहिष्णु है और उनके कारण मेरा जैन समाजके विषय मे हमेशा बहुत ऊचा ख़याल रहा है। मैने तो उन मित्रो मे ऊचा जैनत्व और अहिसक वृत्ति देखी है। यहाँ अहिसकता का अर्थ मैं उदार सहिष्णुता करता हूँ। मेरा विश्वास है कि यही एक ऐसी चीज है, जिसकी आज की दुनिया को वडी आवश्यकता है, और जैन लोग यदि चाहे तो दुनिया को यह चीज दे भी सकते है। आज आप दुनिया मे प्रचलित मासाहार को नही रोक सकते, क्योकि आज तो कुछ स्थानो मे इसके विपरीत वडी विचित्र हवा वह रही है। जैन शास्त्रो का सर्वत्र खूब अध्ययन हो, इसके लिए जैन मित्र बहुत आतुर रहते है। मुझे कोई भी जैन पुस्तक छपवानी हो तो उसके लिए पैसे प्राप्त करने मे मुझे वहुत कठिनाई नही हो सकती। लेकिन आज हमे यह काम नही करना है। आज तो हमे दुनिया की पीडा जाननी है और उसे दूर करने का उपाय सुझाना है। यह उपाय अहिंसा मे है, और यदि जैन धर्म का समुचित निरूपण किया जाय, तो दुनिया उससे बहुत स्वस्थता प्राप्त कर सकती है।

आज जब मै जैन शब्द का प्रयोग करता हूँ तब जैन नाम धारण करने वाले को जैन मानकर मै इस शब्द का प्रयोग नही करता, इस शब्द का प्रयोग मैं ऐसे लोगो के लिए करता हूँ, जिनमे जैन-भावना ओतप्रोत हो गई है। 'Hindu view of Life' के लेखक श्री राधाकृष्णन् के शब्दो मे मैं भी यह मानता हूँ कि धर्म-परिवर्तन कराने का प्रयत्न जब तक रुकेगा नही तब तक जगत मे शान्ति नही होगी। प्रत्येक धर्म मे अपना विकास करने की पूरी गुंजाइश और पूरी सामग्री होती ही है। प्रत्येक धर्म कम या अधिक मात्रा मे अहिंसा-परायण है और उतने अश मे उसमे जैनत्व है।

मुझे तो आपसे दो ही बातें कहनी है आप सहिष्णु बनिये, और जीवन की जरूरतो को यथासभव कम कीजिये। आप अपनी जरूरते कम नही करेंगे तब तक आप सच्चे अहिंसक बन ही नही सकते। हमारा साधारण जीवन तरह-तरह के द्रोहो से भरा है। धन-सम्पत्ति अद्रोह से मिल ही नही सकती। अपने मे से कुछ लोगो के लिए आप जप-तप करने की सुविधा जुटा दे और

बाकी के लोग जो कुछ करते हो वही किया करें, तो इससे समाज कभी अद्रोही अथवा अहिंसक बन ही नही सकता।

हिन्दू धर्म ने एक ही बात कही है—और जैन धर्म उसमे आ जाता है, वह यह है कि कोई भी धर्म झूठा है ऐसा नही कहा जा सकता, प्रत्येक धर्म के सत्याश का आश्रय लेकर मनुष्य परम कोटि को प्राप्त कर सकता है और इसलिए धर्म-परिवर्तन करना व्यर्थ है। इसी विचार मे स्याद्वाद के तत्त्व का सार आ जाता है। 'दूसरे लोग जो कुछ कहते हैं वह बिलकुल झूठ कहते है', ऐसा कहने वाले लोग पहले तो स्याद्वाद-मूलक जैन धर्म का ही द्रोह करते है।

आप पैसा खर्च कर के जो पडित उत्पन्न करेंगे उनसे आपका साहित्य तो खूब बढेगा, परन्तु धर्म का या जगत का उद्धार नही होगा। गाधीजी को कितने ही लोग उत्तम जैन—उत्तम हिन्दू—के रूप मे स्वीकार करते हैं। इसका कारण गाधीजी का पाडित्य नही है, परन्तु उनका चारित्र्य, उनका अनुभव और उनकी तपस्या है। वे ही गाधीजी कहते हैं कि इनमे से कुछ अच्छी-अच्छी बातें मुझे श्रीमद् राजचन्द्र से मिली है। और इन राजचन्द्र मे भी असाधारण पाडित्य नही था, उनमे था तपोमय जीवन और, विश्वव्यापी विशाल भावना। इन दोनो सद्गुणो को अपना कर आप जगत को जैन धर्म का सच्चा दर्शन करा सकते हैं। आज कुछ पाश्चात्य विचारक यह मानते है कि भारत ने अपना सदेश जगत को सुना दिया है और जगत ने उसे ग्रहण कर लिया है। अब भारत के पास जगत को देने के लिए कुछ रहा नही है, और इसलिए अब भारत को जीने का कोई अधिकार नही है। यदि अब हमे जगत को कुछ नही देना है और यदि हम मृतप्राय बन गये हैं, तो हमे ऊपर का अभिप्राय स्वीकार कर लेना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो हमे अपने मे प्रेरणा, उत्साह, ओजस्विता और नव-निर्माण की शक्ति दिखानी होगी, अपनी विरासत को उत्तरोत्तर बढाना होगा और अपने अस्तित्व से जगत को समृद्ध तथा गौरवान्वित करना होगा।

जैनेतर*

एक बार एक पुस्तक मेरे हाथ मे आई। उसका नाम था 'जैनेतर दृष्टि से जैन।' उसमे मेरे भी दो लेख थे। अनेक बडे-बडे लोगो की पक्ति मे अपना नाम देखकर मुझे अच्छा तो लगा, लेकिन विशेष शोध तो उस दिन मैने यह की कि हम जैनेतर है। उसके पहले मै ऐसा कुछ जानता नही था।

'इतर' शब्द बडे मजे का है। यह शब्द मैने पहले-पहल सुना था कॉलेज मे पढाये जाने वाले, तर्कशास्त्र मे। 'मनुष्येतर भिन्न मनुष्य'—ऐसी शास्त्रशुद्ध, तर्कशुद्ध परन्तु ज्ञान मे शून्य की वृद्धि करने वाली व्याख्याये तर्कशास्त्र मे आती थी। 'जो मनुष्य नही है उससे जो भिन्न है वह मनुष्य है।' इसलिए घानी के बैल की तरह घूम-फिर कर जहाँ से चलते वही फिर आना होता था। तर्कशास्त्र की भी कैसी बलिहारी है कि इस प्रकार की व्याख्याये देकर वह ज्ञान मे वृद्धि करना चाहता है?

इसके बाद 'इतर' शब्द सुनने मे आया मद्रास की ओर के 'ब्राह्मणेतर' पक्ष के नाम मे। मैं यह मानता था कि ब्राह्मणेतर लोग हिन्दू तो होगे ही। एक बार मैं मदुरा के एक ईसाई मित्र के घर ठहरा था। मैं उनका मेहमान था, इसलिए घरके सब लोगो को शाकाहार करना पडता था। मैने उनसे मजाक मे कहा 'शाकाहारी बनकर आप कुछ समय के लिए तो हिन्दू हो ही गये।' लेकिन बाद मे पता चला कि वे वास्तव मे 'ब्राह्मणेतर' पक्ष के माने जाते हैं। मैंने यह भी देखा कि वहाँ के ब्राह्मणेतर पक्ष का नेता भी दूसरा एक ईसाई ही है। जो मनुष्य ब्राह्मण नही है वह ईसाई हो या पारसी, ब्राह्मणेतर क्यो नही माना जा सकता? तर्क की दृष्टि का उपयोग करके मैने पूछा 'यह टेबल ब्राह्मणेतर मानी जायगी या नही? यह लालटेन भी ब्राह्मणेतर है न?'

जो लोग हम से भिन्न है उनके बारे मे कुछ न जानना और उन सबको एक ही नाम के नीचे लाना, यह मनुष्य-समाज का पुराना रिवाज है। वेदो मे भी यह दिखाई देता है कि जो आर्य नही हे वह दास या अनार्य है। इस प्रकार

* पर्युषण-पर्व के उपलक्ष मे अहमदाबाद मे आयोजित व्याख्यान-माला मे ता० 12-9-31 को दिया गया भाषण।

आर्येतरो मे आर्यों से भिन्न सपूर्ण सृष्टि आ सकती है। जो मनुष्य इस्लाम को स्वीकार नही करता,वह मुसलमानो की दृष्टि मे काफिर है। जो मनुष्य यहूदी नही है उसे यहूदी लोग 'जेन्टाइल' मानते है। 'जेन्टाइल' सब अपवित्र और अशुचि माने जाते है। ईसाइयो की दृष्टि मे जो ईसा मसीह की शरण मे नही गया है वह 'हीदन' है, उसका जीवन ही पापमय है। दक्षिण भारत मे लिंगायत लोग होते है। वे मन्दिर नही बनाते, लेकिन शिवलिंग को गले मे बाधकर घूमते है। जो लोग उनकी जाति के नही होते उन्हे वे 'भवी' कहते है। 'भवी' मोक्ष के अधिकारी नही होते। वे सब भव-सागर के प्रवाह मे वह जाने वाले है। ग्रीक लोगो मे भी यही वृत्ति पाई जाती है। जो लोग ग्रीक नही है वे सब असस्कारी 'वार्बेरियन' है।

इस सारी मनो-रचना के पीछे एक प्रकार का समूह-धर्म है। आप समूह के धर्म को माने, तो आपका उद्धार होगा। समूह से बाहर के सब लोग जगली, गदे, मैले अथवा विचित्र है! ऐसा समूह-धर्म यदि 'जन्म से जाति' के सूत्र को मानने वाले हमारे सनातनियो मे हो, तो उसे समझा जा सकता है। यहूदियो मे भी उसे समझा जा सकता है। लेकिन जैन धर्म मे वह क्यों होना चाहिये? फिर भी जैन को भी इस समूह-धर्म की छूत लगी है। महाराष्ट्र के जैन शुरू-शुरू मे तो सनातनियो की तरह ही रहते थे। वे गणपति की पूजा करते थे और छूआछूत भी पालते थे। शास्त्र के जानकार किसी मुल्ला के मिलने पर जिस प्रकार मुसलमानो मे धर्म का जोश पैदा हो जाता है, उसी प्रकार किसी जैन पडित के मिलने और कहने से हमारे यहाँ के जैनो ने गणपति का उत्सव मनाना छोड दिया। तभी हमे पता चला कि जैन नाम का कोई स्वतत्र पथ है। उस समय तक हम इतना ही जानते थे कि जो लोग रात मे भोजन नही करते और अपने मन्दिर मे दूसरो को जाने नही देते वे जैन है। यह जैन और जैनेतर का भेद 'जैनेतर दृष्टि से जैन' नामक पुस्तक मेरे हाथ मे आई उस समय फिर से ताजा हो गया।

सामान्यत धर्म दो प्रकार के होते है सामाजिक धर्म और मोक्ष धर्म। सामाजिक धर्म मे इहलोक और परलोक का विचार तो होता है, किन्तु मोक्ष का इतना आग्रह नही होता—उतावली तो होती ही नही। सनातनिय मे केवल सन्यास-धर्म मे ही मोक्ष की उत्कठा दिखाई देती है। वाकी सब को भुक्ति (भोग) भी चाहिये और यथासमय मुक्ति (मोक्ष) भी चाहिये। सनातनी लोग दूसर को अपने धर्म मे निमन्त्रित नही करते, पारसी भी नही करते और यहूदी भी नही

करते। लेकिन जिन लोगों को मोक्ष का, निर्वाण का अथवा कैवल्य का मार्ग मिल गया है, उन्हे तो सभी को निमन्त्रित करना चाहिये। उनके यहाँ सबका स्वागत होना ही चाहिये। किसी धर्म की दीक्षा मिलने पर ही वास्तव मे मनुष्य उस धर्म का अनुयायी माना जा सकता है। जिस धर्म मे सबका स्वागत होता है, उसमे अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नही हो सकता। इस्लाम मे अस्पृश्यता नही है। ईसाईयो मे नही है, बौद्धों मे भी नही है। जैनों मे भी नही हो सकती। लेकिन निरीक्षण करने से पता चलता है कि सनातन धर्म का असर जैनो पर भी हो गया है। मुसलमानो और ईसाईयो को भी इस बुराई की छूत लग गई है।

सिन्ध मे एक मुसलमान से मेरी बात हो रही थी। अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए हिन्दुओ के अनेक दोष दिखाकर अंत मे उसने मुझसे कहा "मै तो हिन्दुओं के हाथ का पानी भी नही पीता" उसकी बात चुपचाप सुन लेने के बाद मैंने कहा "तब तो हिन्दू धर्म की विजय ही हुई न ? सनातनियो मे यह रिवाज है कि वे अपने से नीची कक्षा के लोगो के हाथ का पानी नही पीते। इस बात को आप जिस हद तक स्वीकारे उस हद तक आप हिन्दू हो गये। मुझे आप नीची कक्षा का आदमी भले कहें, लेकिन यह ऊँच-नीच का भेद तो हिन्दू कसौटी से ही मापा जायगा न ? और एक बार आपने हिन्दू कसौटी स्वीकार की फिर तो ऊँचा कौन और नीचा कौन, यह अपने आप सिद्ध हो जायगा।"

मजाक की बात को छोडकर मैं कहूँगा कि जैनो को इस ऊँच-नीच-भेद तथा इस अस्पृश्यता को अपने समाज मे नही घुसने देना चाहिए था। मेरी दृष्टि मे तो जो अस्पृश्यता मे विश्वास रखता है वह जाति से भले ही जैन हो, लेकिन वास्तव मे जैनेतर ही है ? मोक्ष धर्म मे अस्पृश्यता कैसे हो सकती है ? जो मनुष्य उत्साह-पूर्वक आत्मा का विकास करना चाहे, केवल आत्मा के कल्याण की दृष्टि से ही जीये, वह जैन है। दूसरो के प्रति जनूनी होने के बजाय स्वयं अपने प्रति जनूनी होना और तपोमय जीवन व्यतीत करना कितना उत्तम है ? सनातनियों ने एक आसान रास्ता खोज निकाला है। जो लोग मोक्ष के लिये आतुर है, उन्ही के लिये उसने मोक्ष धर्म रख छोडा है। सन्यास धर्म की दीक्षा लेकर यदि कोई उस के पालन मे शिथिलता दिखाये, तो सब कोई उसे धिक्कारते है। मोक्ष की लगन न हो तो कोई सन्यासी बनेगा ही क्यो ? मै तो मानता हूँ कि जिसे मोक्ष की, कैवल्य पद की लगन लगी है वही जैन है। बाकी के सब लोग जैनेतर है। उन्हे सनातनी भले ही कह लीजिये। सनातनियो मे सब के लिए स्थान है। समूह धर्म की कसौटी को सामने रखकर यदि जैन और जैनेतर का भेद हम करें तब तो जैन धर्म टिक ही नही सकता।

— एक बार मै नागपुर की ओर रामटेक की पहाडी देखने गया था। उसकी तलहटी मे एक जैन मन्दिर है। उस मन्दिर के पास धन-दौलत होगी, अत उसकी रक्षा के लिए सिपाही, बन्दूक, तलवार सब कुछ रखा गया था। मै तो वह सब देखकर दग रह गया। मैने पूछा "क्या यह शाक्त मदिर है ? यहाँ मैं दुर्गापाठ करू ?" मन्दिर के पुजारियो ने मुझ से कहा "नही, नही, यह तो जैन मन्दिर है।" मेरी बात वे लोग समझे नही, और उनकी बात मैं नही समझा मैं वहाँ से लौट आया। मन मे विचार उठा जहाँ धन का सग्रह हे और उसकी रक्षा के लिये जहाँ राज्यसत्ता की सहायता ली जाती है, जहाँ हिंसा के हथियार खुले तौर पर रखे जाते है, वहाँ जैन धर्म कैसे हो सकता है ? आखिर समूह धर्म ने जैन धर्म पर विजय प्राप्त कर ली है। आत्मा को भूल जाने के बाद और अनात्मा को ऊँचा मानने के बाद छोटे-छोटे आचारो का पालन किया तो भी क्या और न किया तो भी क्या ?

आज के दिन का उपयोग हृदय शुद्धि के लिए किया जाना चाहिये। हृदय शुद्धि तो होगी तब होगी, लेकिन हम विचार शुद्धि तो कर ले। जो मनुष्य आत्मा और अनात्मा का विवेक नही करता, जो मनुष्य केवल आत्मा को ही पहचानने और उसकी रक्षा करने का प्रयत्न नही करता, वह धार्मिक नही है, जैन तो वह किसी भी हालत मे नही है।

इस्लाम मे एक सिद्धान्त का बडे जोरो से उपदेश किया गया है। ईश्वर एक है, अद्वितीय है, उसके साथ किसी दूसरे मनुष्य को या पदार्थ को मिलाया नही जा सकता, शरीक नही-किया जा सकता, यह इस्लाम का एक महान् सिद्धान्त है। ईश्वर के साथ दूसरे किसी को मिलाने के गुनाह को 'शिर्क' कहा जाता है। जो मनुष्य शिर्क का गुनाह करता है वह मुशरिक है— काफिर है। इस्लाम का यह सिद्धान्त मुझे अच्छा लगता है। हम अपनी परिभाषा मे इस सिद्धान्त का विचार करे। अतर्यामी परमात्मा ही हमारी शुद्ध आत्मा है। उसके साथ हम अनात्मा को मिला दें, तो यह 'शिर्क' का गुनाह होगा। जो मनुष्य केवल आत्मा के प्रति ही सच्चा है, आत्मा की उन्नति के लिए ही जीता है, अनात्मा के मोहजाल मे नही फसता, वही जैन है। बाकी के सब लोग जैनेतर है। इस शुद्ध विचार की दृष्टि से क्या हम सभी जैनेतर नही हे ? कौन आत्मा परायण है और कौन नही है, यह तो मनुष्य का अपना अन्तर ही उससे कह सकता है। बाहरी जीवन से तो लगता है कि मै भी जैनेतर हूँ और आप लोग भी जैनेतर हैं। फिर भी यदि इस समाज मे कोई जैन हो तो उसे मेरे हजार-हजार प्रणाम।

हिन्दू की दृष्टि से जैन धर्म*

जैनियो के साथ मेरा ऋणानुबन्ध कुछ अजीब-सा है। मेरे बचपन मे एक दिगम्बर जैन-परिवार हमारे पडोस मे रहता था। मैं उनके घर मे खेलने जाता। लेकिन देखा कि इर्द-गिर्द के लोग उनसे सम्बन्ध नही रखते। कहते कि "ये वोपारी लोग अच्छे नही।" मेरे साथ तो उनका सलूक अच्छा था, इसलिए मैंने अपने लोगो से पूछा कि "इनमे क्या बुराई है ?" कहा गया कि "इनके मन्दिर मे नग्न मूर्ति की उपासना होती है।" दूसरा कारण यह बताया कि " ये लोग अहिंसा को मानते तो है, लेकिन चलने-फिरने मे जो अपरिहार्य हिंसा होती है उसका पाप बडी खूबी से दूसरे किसी के सिर पर डाल देते है।" इस जवाब से मुझे सन्तोप नही हुआ, लेकिन जैनो के बारे मे जानकारी हासिल करने का कुतूहल जागा।

मैं देखता हूँ कि अपने देश मे हम हजारो वर्षों से ऐसा कूप-मडूक का जीवन व्यतीत करते है कि पडोसियो के बारे मे भी घोर अज्ञान रहता है। लोग अपने सम्प्रदाय के बाहर का कुछ जानते ही नही। जो जानते है वह विकृत रूप मे और मशोधन तो कभी करते ही नही। नग्न मूर्ति की पूजा का नाम सुनते ही शाक्त-सम्प्रदाय की कल्पना मन मे खडी हो जाती है और स्वाभाविक रूप से मन मे जुगुप्सा पैदा होती है। किन्तु वीतराग मुनियो की नग्नता कुछ और चीज है। आज मैं कला और नीति दोनो दृष्टियो से इस नग्नता का समर्थक हूँ और अहिंसा के बारे मे तो कह सकता हूँ कि अपना पाप दूसरे के मत्थे मढ देने की बात जैन धर्म मे नही है। कायिक, वाचिक और मानसिक हिंसा का स्वरूप पहचानते-पहचानते जैन-मुनि बहुत गहराई तक पहुँचे है। हिंसा करना, करवाना या उसका अनुमोदन करना—तीनों को वे एक-सा पाप समझते है।

धर्मों की स्थापना भले ही शुद्ध, सात्विक लोगो ने की हो, किन्तु उनके सम्प्रदायो का विस्तार और प्रचार करने वालो मे रजोगुण की कमोवेश मात्रा होने के कारण सब धर्म-परम्पराओ मे कुछ न कुछ दोप आ ही जाते है।

---

* 28 फरवरी 1959—फिरोजाबाद मे श्री वर्णी अभिनन्दन सभा मे दिया गया भाषण।

अतिशयोक्ति, अहकार, अभिमान, परनिन्दा, असहिष्णुता आदि दोप सब धर्म के लोगो मे पाये जाते हैं। जहाँ आग्रह आया, वहाँ एकागिता आ ही जाती है। यह सब जानते हुए भी जिस तरह मैं अपने धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखता हूँ, वैसे ही और धर्मों के प्रति भी रखता हूँ। अपने दोपो के प्रति जैसा सौम्यभाव रहता है वैसा ही सबके दोपो के प्रति भी आवश्यक समझ गया हूँ। अगर भेद-भाव रखना ही है तो हम अपने दोपो के प्रति कठोर बन सकते है। स्याद्‌वाद ने मुझे सिखाया है कि औरो की स्थिति को हम बराबर समझ नही सकने, इस कारण भी औरो के दोपो के प्रति क्षमाभाव और सौम्यता धारण करनी चाहिये।

'हिन्दू' शब्द हमारे धर्मशास्त्र मे कही नही आता। औरो ने हमारे देश, हमारी सस्कृति और हमारे समाज के लिए 'हिन्दू' शब्द लगाया है। सिन्धु नदी के किनारे जो सस्कृति सगठित हुई और सारे देश मे फैली, वह सस्कृति हिन्दू-सस्कृति है। सस्कृति के मानी है, जीवन-दृष्टि और जीवन-व्यवस्था। इस हिन्दू-सस्कृति के अन्तर्गत अनेक धर्म, अनेक सम्प्रदाय, अनेक साधनाएँ, पथ और फिर्के पाये जाते है, उनके अन्दर सूक्ष्म और मौलिक भेद जरूर है, लेकिन जिस तरह एक ही परिवार के लोगो की शक्लो मे पारिवारिक साम्य दीख पडता है, वैसे ही हिन्दू-सस्कृति के सब सम्प्रदायो मे एक-जातीयता पायी जाती है। इन सब का स्वभाव एक-सा है, इनकी समाज-व्यवस्था करीब-करीब एक-सी है। गुण-दोप भी एक-से पाये जाते है। यह सब देखकर 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या करनी चाहिये, निरुक्ति के सहारे हम कह सकते है कि—

'हिसया दूयते चित्त यस्या सौ हिन्दुरीरित '—'हिसा की कल्पना मात्र से ही जिसका चित्त दुखी होता है, उद्विग्न होता है, वह है 'हिन्दू'।' हिन्दू का स्वभाव ही है कि वह 'भूतानुकूल्य भजते' सब प्राणी स्वभाव से ही औरो का द्रोह करके जीते है। धर्म कहता है कि द्रोह बुरी चीज है। 'अद्रोहेणैव भूताना अल्पद्रोहेण वा पुन' अपनी-अपनी आजीविका प्राप्त करनी चाहिये। मनुष्य से लेकर सूक्ष्म जीवो तक सब के प्रति प्रतिकूल भाव छोड देना और सब के प्रति अनुकूल बनना—यही है हिन्दू-वृत्ति, हिन्दू-स्वभाव। इस स्वभाव का विकास सब मे एक-सा नही हुआ है। कोई बहुत आगे बढे है, कोई कम, लेकिन सब का प्रस्थान उस एक ही दिशा मे है। इसीलिये ये सब हिन्दू हैं। इन हिन्दुओ की धार्मिक जीवन-धारा प्राचीन काल से श्रमण और ब्राह्मण इन दो

प्रवाहो मे वहती ग्रायी हैं। इन दोनो के वीच गुणो ग्रौर दोषो का ग्रादान-प्रदान हमेशा चलता ग्राया है। ब्राह्मण यानि वैदिक धारा मे जो हिंसा मूलक यज्ञ-सस्था चल रही थी वह श्रमण सस्कृति के ग्रौर सन्तो के प्रभाव से नाम शेष हो गयी।

यज्ञ-सस्था का प्रारम्भ शायद हिंसा से नही हुग्रा होगा, लेकिन उसका विस्तार पशु हिंसा के रूप मे ही हो गया।

जात-पात भेद शायद शुरू मे वैदिक सस्कृति मे नही थे। ग्राज के रूप मे तो वे नही ही थे। लेकिन वर्ण-व्यवस्था ग्रौर जाति-व्यवस्था ही वैदिक सस्कृति का प्रधान रूप वन गया। यह वर्ण ग्रौर जाति-व्यवस्था श्रमण सस्कृति के ग्रनुकूल नही थी, तो भी उसका ग्राक्रमण श्रमण-सस्कृति पर काफी मात्रा मे हुग्रा है। जब वैदिक-परम्परा के हम लोग उस जाति-व्यवस्था को धर्म-विरोधी समझकर तोडने को तैयार हुये है, तब श्रमण-सस्कृति के लोग उसे ग्रपने समाज का प्राण समझकर कभी-कभी मजवूत करने की कोशिश करते है।

जाति-भेद तो सकुचितता ग्रौर ऊँच-नीच भाव पर ही ग्राधारित है। वर्ण व्यवस्था मे व्यक्ति का जीवन-विकास एकागी ढग से होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारो वर्ण मानो किसी एक यन्त्र के पुर्जे है। यन्त्र मे सम्पूर्णता भले हो, पुर्जो का जीवन एकागी ही होता है। ग्रथवा यो कहे कि जीवन उनका स्वतन्त्र है ही नही। ग्राज की मानवता का तकाजा है कि व्यक्ति के जीवन मे एकागिता का प्रवेश समाज के लिये खतरनाक है।

श्रमण-सस्कृति ने वर्ण-व्यवस्था को न स्वीकार किया ग्रौर न उसका विरोध ही। उसकी उपेक्षा ही की। वैदिक-परम्परा के विकास मे जव क्रिया-काण्ड चेतनहीन हो गया, तव सन्तो का प्रादुर्भाव हुग्रा। सन्तो ने भी वर्ण ग्रौर जाति को ग्रप्रतिष्ठित किया, ग्रौर इतना तो स्पष्ट कहा कि मानवी विकास के लिये वर्ण ग्रौर जाति पोषक नही, वाधक है। श्रमण-सस्कृति का ही यह फल था। इस प्रकार यह साफ है कि श्रमण-सस्कृति ग्रौर ब्राह्मण-सस्कृति दोनो धाराए समानान्तर वहती ग्रायी है। दोनो के वीच ग्रादान-प्रदान चलता रहा है ग्रच्छाइयो का भी ग्रौर वुराइयो का भी।

ग्रव हम इन दोनो के वीच समान भाव से वढी ग्रौर एक सस्था का विचार करें। वह है मन्दिरो की सस्था। मूल वैदिक-सस्कृति मे शायद

मूर्तिपूजा नही थी। मन्दिर तो थे ही नही। यज्ञ-सस्था ही उस सस्कृति का बाह्य स्वरूप था। सम्भव है, मूर्तिपूजा और मन्दिर की सस्था इस देश मे बाहर से ही आयी हो। बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कोसबी का कहना था कि 'हमारे यहाँ मूर्तिपूजा शायद अरबस्तान से आयी है।' मेरा खयाल है कि यूनानी और रोमन लोगो का अनुकरण करके हमने अपने यहाँ मूर्तिपूजा और मन्दिरो का विस्तार किया होगा। मूर्ति और मन्दिर की स्वीकृति शायद श्रमण-सस्कृति मे पहले हुयी, बाद मे वैदिक लोगो ने उसे अपना ली होगी। इस बारे मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। आगे चलकर जब श्रमण और ब्राह्मण दोनो धाराओ मे शाक्त पद्धति का प्रचार हुआ, तब मूर्तिपूजा मे अनेक दोष भी आ गये और मन्दिरो द्वारा अनेक बुराइयो का समर्थन होने लगा। सनातनी मन्दिरो मे खान-पान, भोग-नैवेद्य का झझट बहुत है। मन्दिरो मे किसी बडे राजा के सुखोपभोग और विलास का अनुकरण ही होता है। जैन मन्दिरो मे यह झझट नही है। भोग-नैवेद्य के रूप मे जहाँ ख.न-पान का व्यवहार आया वहाँ स्पर्शास्पर्श का पाखण्ड आ ही जाता है। जैन मन्दिरो मे नैवेद्य का विधान न होने से दर्शन की इजाजत हर किसी को आसानी से दी जा सकती है। जैन-धर्म विश्व-धर्म है। वह सब को अहिंसा, तप और आत्मोन्नति की ओर बुलाता है। ऐसे मन्दिर मे किसी को भी दर्शन की रुकावट नही होनी चाहिये।

हिन्दू धर्म की श्रमण धारा मे उच्च-नीच भाव का और स्पृश्यास्पृश्य का विधान हो नही सकता। मन्दिर मे जाकर दर्शन और पूजा करने से अगर कोई धार्मिक या आध्यात्मिक लाभ होता हो, तो हरिजनो को उससे वचित नही रखना चाहिये।

यहाँ मै जरा अपनी भूमिका भी स्पष्ट कर दूँ। जो लोग आजकल मन्दिर मे जाते है, उनकी आध्यात्मिक उन्नति कहाँ तक होती है, इसका हिसाब किसी ने नही लगाया। ऐसी हालत मे हमारी मन्शा यह नही कि हरिजन मन्दिर जाने के आदी बने। हम इतना ही चाहते है कि मन्दिर चलाने वाले लोगो की सकुचितता और बहिष्कार-वृत्ति दूर हो। मन्दिर निर्माता, व्यवस्थापक और मन्दिर मे जाने वाले सब को मैं मन्दिर-सस्था के आधार स्तम्भ समझता हूँ। इनके मन मे जो रूढिवादी सनातनी-वृत्ति घर कर गयी है, वह समाज-स्वास्थ्य के लिये खतरनाक है। उसे दूर करना ही मन्दिर-प्रवेश आन्दोलन का प्रधान उद्देश्य है। मन्दिर-सस्था के प्रति हमे

आदर है । उस सस्था मे फिर से चैतन्य लाया जा सकता है. इस विश्वास से ही हम मन्दिर-प्रवेश की ताईद करते है ।

पारसी लोगो का जरथुस्त धर्म, मुसलमानो का इस्लाम, ईसाइयो का विश्वासी धर्म तीनो परदेश मे आये धर्म है । यहूदी धर्म भी वैसा ही है । इनको छोड बाकी के धर्म इसी भूमि मे निकले है । यहाँ की समाज-व्यवस्था भी उन्हें मान्य है । ये सब हिन्दू धर्म की शाखाएँ हैं । ऊपर बताये परदेशी धर्म भी आदान-प्रदान द्वारा आहिस्ता-आहिस्ता स्वदेशी बन रहे है । उनके असर के कारण पूरे हिन्दू धर्म मे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते रहे है । हिन्दू धर्म की यही खूबी है कि उसने कभी भी आदान-प्रदान से इनकार नही किया है ।

मूर्तिपूजा का प्रश्न अब बिल्कुल गौण हो गया है । एक ही मन्दिर मे दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यता की मूर्तियां रखकर भेदभाव क्यो न मिटा दिया जाय ?

आहार के बारे में भी नये ढग से सोचना चाहिये । जो लोग मासाहार नही करते, उनको अपने शुभ सिद्धान्तो मे दृढ रहने के लिये क्या मासाहारी लोगो के बहिष्कार की आवश्यकता है ?

अप्रगतिशील रूढिवादी ही बहिष्कार और पार्थक्य का सहारा लेते है । जैन लोगो ने हिन्दू धर्म मे रह कर अहिंसा का जितना प्रचार किया है, उतना प्रचार वे हिन्दू-समाज से अलग रह कर नही कर सकेंगे । किन्तु आज-कल कई जैनियो मे धार्मिक व्यक्तिवाद घुस गया है और दो-एक कानूनो से बचने के लिये वे कहने लगे हैं कि हम 'हिन्दू' नही हैं । मैं उसका प्रतिवाद नही करूँगा । जो बाहर जाना चाहता है उसके लिये दरवाजे खुले रखना हिन्दू समाज का स्वभाव ही है । पहरा रखा जाता है अन्दर आने वालो के लिये । मेरा दिल इतना ही कहता है कि हिन्दू-समाज के सब से बडे पाप अस्पृश्यता को जिन्होंने अपनाया है, कम से कम वे तो पूरे-पूरे हिन्दू ही हैं ।

अहिंसा के कई क्षेत्र हैं । आहार के बारे मे सब लोग जानते ही हैं । किसी का भी द्रोह किये बिना, किसी की मेहनत से नाजायज फायदा उठाये बिना आजीविका प्राप्त करना, यह है अहिंसा का सब से बडा क्षेत्र । बिना अपराध किसी को हीन या नीच समझना सामाजिक हिंसा है । अफ्रिकन या चीनी या यूरोपियन किसी भी वश के लोगो को अपने से हीन समझना, उनका

बहिष्कार करना भी हिंसा है। मानवता का और विश्व-बन्धुत्व का उससे द्रोह है।

गांधीजी के बाद यानी सत्याग्रह का शुद्ध सात्विक शास्त्र पाने के बाद भी शस्त्र-युद्ध भी अनावश्यक, परिहार्य हिंसा है। यह बात दुनिया के राष्ट्रों को किसी न किसी दिन मान्य होने वाली है। जैन धर्म की एक बात मुझे अच्छी लगी है। प्रचार धर्म होते हुये भी उसने और किसी धर्म की तरह अपने अनुयायियों की संख्या बढाने को कोशिश नही की है। जो भी आदर्श, उस राजी हुआ कि तुरन्त उसको अपना लेबल लगा कर संख्या वृद्धि का अभिमान संतोष और लाभ पाने का प्रयत्न जैन धर्म ने नही किया है। संख्या वृद्धि नहीं, किन्तु चारित्र्य वृद्धि ही सच्चे प्रचार का फल है।

मेरे मित्र श्री धर्मानन्द कोसबी जन्मना ब्राह्मण थे। बाद मे उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। बौद्ध धर्म सीखने के लिये नेपाल, तिब्बत, सिलोन, ब्रह्मदेश, सियाम आदि देशो मे वे घूमे। बाद मे सेवा के हेतु कई बार अमेरिका और रूस गये। मेरे आग्रह से जब वे गुजरात विद्यापीठ मे आकर रहने लगे, तब उन्होंने जैन धर्म का अध्ययन किया, भगवान् पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म उनको भाया। पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म नामक उन्होंने एक किताब भी लिखी है। उसमे उन्होने लिखा है कि 'पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से ही भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर की दो परम्पराएँ प्रवृत्त हुयी'। पार्श्वनाथ के उपदेश का कोसबीजी पर इतना गहरा असर हुआ था कि मरणान्तिक सलेखना भी उन्होंने ली थी।

मैं मानता हूँ कि जैन धर्म अगर रूढिवाद के बन्धन से मुक्त हुआ, तो वह अवश्यमेव सर्व-समन्वयकारी विश्व धर्म बनेगा। स्याद्वाद की परिणति सर्व-समन्वय मे ही होनी चाहिये।

समस्त हिन्दू

एक समय था जब हमारे देश मे बहुत चर्चा चली कि 'हिन्दू' कौन ? इसी चर्चा के सिलसिले मे हिन्दू शब्द की अनेक व्याख्याये हुयी और लक्षण बाँधे गये। 'जो अपने को हिन्दू समझता है वही हिन्दू है' ऐसी एक व्याख्या उन दिनो की गयी थी। लोकमान्य तिलक की बनायी हुई व्याख्या मे प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु' यही मुख्य लक्षण था। 'साधनाना अनेकता और 'उपास्याना अनियम,' यह था हिन्दू समाज की विविधता, उदारता और सर्व सग्राहकता का लक्षण।

इसी परम्परा को आगे चला कर विनोबाजी ने हिन्दू की व्याख्या की है। मुझ जैसे बहुत से लोग उनके लक्षण को मजूर करेगे। उनका विवरण खूबीदार और रोचक है। अब इसी सवाल को हम एक दूसरे पहलू से देखे।

आज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि चार वर्णो मे बँटे हुये और अनेक जातियो मे विभक्त सब सनातनी लोग, लिंगायत, वैष्णव, भागवत आदि अनेक पथो के लोग, आर्य-समाजी, ब्राह्मो (प्रार्थना समाजी), जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि सम्प्रदाय के लोग ये सब के सब हिन्दू माने जाते है। हिन्दुस्तान की आदिम जातियाँ भी हिन्दू समाज के अन्तर्गत ही है।

हम यो भी कह सकते है कि जो लोग पारसी, मुसलमान, ईसाई आदि विदेश मे आये हुये धर्मो के अनुयायी है, वे सब हिन्दू ही है।

अगर किसी आदमी का ईश्वर पर विश्वास नही है, तो उससे उसका हिन्दुत्व मिट नही जाता। जो व्यक्ति जात-पात, वर्ण और आश्रम को नही मानता वह भी हिन्दू रह सकता है। दार्शनिक खयाल मे कहा जाता है कि ईश्वर को मानने, न मानने पर मनुष्य की नास्तिकता निर्भर नही। जो वेद को नही मानता वही नास्तिक है। 'नास्तिको वेदनिन्दक'। किन्तु स्वामी विवेकानन्द ने वेद का अर्थ किया है 'ज्ञान'। वेद को मानना, वेद के प्रति आदर रखना एक चीज है और वेद-वचन को प्रमाण समझना दूसरी बात। आर्य-समाजी लोग प्रॉटेस्टट ईसाई लोगो की वृत्ति के हैं। प्रॉटेस्टट ईसाई बायबिल को प्रमाण मानते हैं, लेकिन बायबिल का अर्थ करने मे अपने को

स्वतन्त्र समझते हैं। आर्यसमाजी वेद को प्रमाण तो मानते हैं, लेकिन वेद का अर्थ करने में स्वतन्त्र हैं। केवल सायणाचार्य के ही नहीं, किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती के किये वेद के अर्थ से भी वे तत्त्वतः बँधे नहीं हैं। ब्राह्म या प्रार्थना-समाजी वेद के प्रति आदर अवश्य रखते हैं लेकिन हर एक वेद वचन का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। आज-कल के बहुत से सनातनी लोग वेद के प्रति सर्व-सामान्य आदर रखते हैं। वे लोग न वेद पढ़ते हैं न उसका अर्थ समझते हैं न उसके वचन से अपने को बँधा समझते हैं। वैदिक साहित्य हिन्दू संस्कृति की गंगोत्री है, इसलिये उसके प्रति सर्व-सामान्य प्रेम-भक्ति वे अवश्य रखते हैं। गांधीजी की यही भूमिका है। वेद के वचनों का जो अर्थ युक्तियुक्त धर्मानुकूल न होता हो, वहाँ हम कहते कि 'उस अर्थ हमारे ध्यान में नहीं आता या अर्थ करने में कुछ भूल हुयी है' या 'यह वचन सार्वत्रिक नहीं है', 'जिस संदर्भ को हम नहीं जानते ऐसे कुछ तात्कालिक या मर्यादित संदर्भ के अनुसार ही वह वचन योग्य होता होगा'। यानी हम लोग वेद-वचनों में से उन्हीं को स्वीकार करते हैं, जो बुद्धिग्राह्य, युक्तिसंगत और धर्मानुकूल हों। बाकी वचनों के प्रति हम या तो उदासीन रहें, या सहानुभूतिपूर्वक उनका व्यापक अर्थ करेंगे या आदर के साथ उन्हें अलग रख देंगे। निर्दोष ही ग्राह्य हो सकता है। यह सारा भाव विनोबाजी ने 'श्रुतिसार' में भर दिया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अन्य धर्मावलम्बियों या अन्य पंथावलम्बियों को अपने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में कहीं कहीं [illegible] की है। किन्तु ब्रह्म समाजियों से अपील करते समय अनुनय की वृत्ति [illegible] की है। किन्तु ब्रह्म समाजियों के सिद्धान्त [illegible] है, यह बात अत्यन्त महत्त्व की है। ब्रह्म समाजियों [illegible] करने पर वे तुले नहीं दीख पड़ते। किन्तु उनके साथ राष्ट्रीय, सांस्कृतिक [illegible] के भाव में वे अनुनय करते दीख पड़ते हैं।

लिंगायत या कबीर सम्प्रदायी लोग वेद के प्रामाण्य के [illegible] बिलकुल उदासीन हैं। कुछ वैष्णव कहते हैं कि हम वैष्णव [illegible] हिन्दू हैं या नहीं, यह नहीं जानते। उनका भाव यह है कि वैष्णव धर्म [illegible] धर्म है। मुसलमान ईसाई, पारसी, यहूदी आदि सब लोग वैष्णव धर्म [illegible] कर सकते हैं। बौद्ध और जैन तो वेद-प्रामाण्य से इनकार [illegible] बौद्धों को तो आत्मा का अस्तित्व भी मान्य नहीं। [illegible] कोई सम्बन्ध नहीं। सिक्ख लोग ईश्वर भक्त हैं, जाति को नहीं मानते। [illegible] के प्रति कम से कम उदासीन तो हैं ही। [illegible]

की दृष्टि अलग-अलग है। आर्यसमाजी लोग मूर्ति-पूजा का विरोध करते है। पुनर्जन्म के बारे मे हर एक की दृष्टि अलग-अलग है। पुनर्जन्म और सापराय (मरणोत्तर जीवन) एक वस्तु नही है। दयानन्द सरस्वती और पूर्वमीमासावादी आत्यतिक मोक्ष को स्वीकार नही करते। पूर्वमीमासी लोग सन्यास आश्रम को भी नही मानते।

ऐसी हालत मे सनातनी, आर्य-समाजी, ब्राह्मो, जैन, बौद्ध, लिगायत, सिक्ख आदि सब विभाग का अतर्भाव हो सके ऐसा लक्षण हमे चाहिये। 'सर्व धर्म समादर, भूतानुकूल्य भजते', और 'हिंसया दूयते चित्तम्' यह सच्चे और अच्छे हिन्दुओ का लक्षण जरूर कहा जा सकता है। सर्व धर्म समादर वृत्ति प्राचीन रोमन लोगो मे भी थी। चीनी लोगो मे भी यह पायी जाती है। भूतानुकूल्य धर्म-मात्र का लक्षण होना चाहिये। हिन्दू वृत्ति मे वह विशेष रूप से प्रकट हुआ है। हिन्दू ने आज तक कई वार हिंसा की है। आहार के लिये भी, आत्मरक्षा के लिये भी और अन्याय के प्रतिकार के लिये भी। लेकिन वह हिंसा का पुरस्कार नही करता। 'हिंसया दूयते चित्त यस्यासौ हिन्दुरीरित,' यह लक्षण हिन्दू स्वभाव के लिये और हिन्दू सस्कृति के लिये यथार्थ दीख पडता है। एक परदेशी ईसाई मिशनरी ने राधाकृष्णन का Hindu View of Life पढा। उससे प्रभावित होकर उनसे कहा If this is Hinduism I am a Hindu—'यदि वह हिन्दूधर्म है तो मैं हिन्दू हूँ।'

आज तक हम कहते आये है कि दुनिया के तीन धर्म ऐसे हैं, जो अपने लोगो का अपना धर्म छोड कर दूसरे धर्म मे जाना वरदाश्त कर सकते है। लेकिन औरो को किसी भी शर्त पर अपने धर्म मे लेने को तैयार नही है। ये तीन धर्म है सनातनी हिन्दू, यहुदी और जरथुस्त्री पारसी। हिन्दू समाज के वारे मे यह वात वहुत कुछ सही है। लेकिन आर्य-समाजी और बौद्ध औरो को अपने फिरके मे ले सकते है और लेते भी है। स्वामी विवेकानन्द ने सिस्टर निवेदिता आदि शिष्यों को हिन्दू धर्म मे ले लिया। एक यूरोपियन ईसाई महिला ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। उसे काशी विश्वनाथ के मन्दिर मे प्रवेश मिलना ही चाहिये—ऐसा आग्रह गाँधीजी का था। हम तो मानते है कि मूर्तिपूजा के जो घोर विरोधक नही है, ऐसे सब लोगो को हमारे मन्दिरो मे आने देना चाहिये। चमडे की जूतियाँ मन्दिर मे न लाने की मर्यादा का और शिष्टाचार का वे पालन करें, इतने से हमे सन्तोष रखना चाहिये।

श्री विनोवा की दी हुयी व्याख्या सनातनी हिन्दू के लिये ठीक है। आज के व्यापक और सग्राहक समस्त हिन्दू समाज का उसमे अतर्भाव नही होता। मैं तो ईसाई धर्म को भी हिन्दू धर्म के ही एक पथ की दृष्टि से देखता हूँ। शिव, विष्णु, गणपति, देवी और सूर्य इन पाँच देवताओ के या उन्ही के अवतार-स्वरूप अन्य देवताओ की उपासना का समन्वय करके श्री शकराचार्य ने पचायतन पूजा चलायी। उसके वाद सिक्ख आदि अनेक सम्प्रदायो ने गुरु-पूजा को छट्ठा आयतन वनाया। उसके जैसे गुरु-पूजा को प्रधानता देने वाला पथ विश्वासी था ईसाई कहलाता है। हिन्दू धर्म के अन्दर उसे स्थान देने मे कोई एतराज नही होना चाहिये।

अभी-अभी मर्दुम-शुमारी (जन-गणना) के एक अधिकारी हमारे पास आये थे। नाम, उम्र, भाषा आदि जानकारी पूछने के वाद उन्होने कहा— "आप हिन्दूधर्मी ही हैं"। उनके इस कथन का मुझे प्रतिवाद नही करना था। मै हिन्दू हूँ ही। लेकिन और धर्म ग्रथ पढने से और उन धर्मों के सत्पुरुषो के साथ जो कुछ सत्सग मिला, उससे मेरा सर्वधर्म समभाव वढ गया और मेरा अपना अपनी ही दृष्टि का सर्वधर्म सम-भाव विकसित हुआ। इसलिये मैंने उन महाशय से कहा "हाँ मैं हिन्दू तो हूँ, लेकिन सर्वधर्मी हूँ"।

सर्व धर्मों के प्रति तटस्थ और निष्पक्षपात सहानुभूति और आदर रखने वाली हमारी सरकार को चाहिये कि वह मर्दुमशुमारी के द्वारा इस वात की भी जाँच और गणना करे कि मेरे जैसे सर्वधर्म सम-भाव वाले सर्व-धर्मी कितने ह।

फरवरी, १९५७

महावीर का जीवन सन्देश

महावीर का विश्वधर्म

•

महावीर का जीवन सन्देश

महावीर का विश्वधर्म

[१]

'महावीर' नाम श्री विष्णु को दिया गया है। उनके वाहन गरुड को भी महावीर कहते है। श्री रामचन्द्र जी को भी महावीर कहते है और उनके एकनिष्ठ सेवक हनुमान भी महावीर ही है। आज हम श्री पार्श्वनाथ के अनुगामी श्री वर्धमान को महावीर के नाम से पहचानते है।

'महावीर' शब्द से कौनसा अर्थबोध होता हे ? सर्वत्र फैलकर, आसुरी शक्ति को हराकर विश्व का पालन करने वाले विष्णु महावीर हैं। अमृत प्राप्त करने की शक्ति रखने वाला मातृ-भक्त गरुड महावीर है। पिता के वचन का पालन करने के लिए, प्रजा का कल्याण करने के लिए और धर्मनिष्ठा का आदर्श प्रस्थापित करने के लिए राज्य, सुख और पत्नी का त्याग करने वाले श्री रामचन्द्र जी महावीर हैं। किसी प्रकार के प्रतिफल की इच्छा रखे विना सेवा करने वाले और शक्ति का उपयोग शिव ही की सेवा मे करने वाले ब्रह्मचारी सेवानन्द हनुमान भी महावीर है। मातृभक्ति, सुख-त्याग, भूतमात्र के प्रति अपार दया और इन्द्रियजय का उत्कर्ष दिखाने वाले ज्ञातृपुत्र वर्धमान भी महावीर है। आर्य-जाति ने सर्वोच्च सद्गुणो की जिस मनोमय मूर्ति की कल्पना की है, जिस आदर्श को निश्चित किया हे उस तक पहुँचने वाले व्यक्ति महावीर है। विजय प्राप्त करने वाला वीर है। जो अन्तर्वाह्य दुनिया पर विजय पाता है, वह है महावीर। वीर यानि आर्य और महावीर यानि अर्हत्।

हिन्दू-धर्म राष्ट्रीय-धर्म है। एक महान् राष्ट्र का धर्म होने से उसे महाराष्ट्रीय-धर्म भी कह सकते हैं। लेकिन हिन्दू-धर्म के तत्त्व सार्वभौम है विश्व-धर्म के है। उनका प्रचार सर्वत्र होने लायक है। हिन्दू धर्म ने मनुष्य जाति का जीवन-धर्म खोज निकाला है। हिन्दू धर्म ने वहुत पहले से निश्चित कर रखा है कि क्या करने से मनुष्य जाति शान्ति से रह सकेगी, उसका उत्कर्ष होगा, तथा वह परम तत्त्व को पहचान कर उसे प्राप्त कर सकेगी। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (इस धर्म का अल्प-सल्प (पालन) भी वडे-वडे भयो से रक्षा करता है)। 'न हि कल्याणकृत् कश्चित्दुर्गति तात गच्छति' (हे तात, शुभ कर्म करने वाले किसी की दुर्गति नही होती)। 'धर्मो रक्षति रक्षित' (जो धर्म का रक्षण करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है)।

इस तरह की श्रद्धा या अनुभव को इस धर्म ने अंकित कर रखा है। फिर भी हिन्दू धर्म प्रचार-परायण (मिशनरी) धर्म नही है। सारी दुनिया मे अपना प्रचार करने का हिन्दू धर्म का आग्रह नही है। हिन्दू अपने धर्म को अपने आचरण मे लाने का प्रयत्न करता रहता है। उसमे अगर उसे सफलता मिल गयी तो उसकी छाप पडौसियो पर पडेगी ही। यह समझ कर कि प्रभाव डालने के लिए जानबूझ कर कोशिश करने मे उतावली और अधीरता है, यानि जीवन का कच्चापन है, हिन्दू व्यक्ति अधिक प्रयत्न पूर्वक आत्मशुद्धि ही करता रहेगा।

सामाजिक हिन्दू धर्म के मानी है इन सनातन तत्त्वो को अपने विशिष्ट समाज के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना। दूसरा समाज इन्ही तत्त्वो को अलग तरीके से अपने जीवन मे ला सकता है। हिन्दू धर्म के इन सनातन तत्त्वो को समाज मे दाखिल करने के अनेक प्रयत्न इस देश मे हुये है। रूढ सनातन धर्म इस देश के बाहर बिल्कुल नही फैला है। उसे फैलाने के प्रयत्न किसी समय हुये है या नहीं, इसका हमे पता नही है। इस देश मे ही उसे नष्ट करने के प्रयत्न हुये है और वे प्रयत्न निष्फल हुये है इतना हम जानते है। लेकिन रूढ सनातन पद्धति को छोड दूसरे ढग पर किये गये प्रयोग दुनिया मे अच्छी तरह फैल गये है। बौद्ध धर्म इस बात का सबूत है। यही सबसे पहला मिशनरी धर्म दिखाई देता है। इससे पहले अगर मिशनरी कार्य हुआ हो तो उसका हमे ठीक-ठीक पता नही है। ऐसा भी लगता है कि वर्ण-व्यवस्था युक्त जीवन-धर्म प्रचार का धर्म हो ही नहीं सकता। (जीवन-धर्म यानि केवल मानने के लिए रचा हुआ धर्म नही, बल्कि जीने के लिए विकसा हुआ धर्म)।

बौद्ध और जैन धर्म मे काफी भेद है, फिर भी दोनो मे साम्य भी कुछ कम नही है। दोनो मिशनरी धर्म होने लायक है दोनो विश्व-धर्म है। स्याद्वाद रूपी बौद्धिक अहिंसा, जीवनदया रूपी नैतिक अहिंसा और तपस्या-रूपी आत्मिक अहिंसा (भोग यानि आत्महत्या–आत्मा की हिंसा। तप यानि आत्मा की रक्षा—आत्मा की अहिंसा)। ऐसी त्रिविध अहिंसा को जो धारण कर सकता है, वही विश्वधर्म हो सकता है। वही अकुतोभय विचर सकता है। 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य' (जो लोगो से नही ऊबता, जिससे लोग नही ऊबते) यह वर्णन भी उसी पर चरितार्थ हो सकता है। ऊपर बताई हुई प्रस्थानत्रयी के साथ ही व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवनयात्रा हो सकती है। आत्मा की खोज मे यही पाथेय काम आने योग्य है।

मिशनरी धर्म अपने तत्त्वो के प्रति अवश्य वफादार रहे, लेकिन अपने स्वरूप के सम्बन्ध मे आग्रह न रखे। 'जैसा देश, वैसा वेश' का नियम धर्म पर भी—खासकर विश्वधर्म पर—घट सकता है। विश्वधर्म यदि सच्चा विश्वधर्म है तो वह अपने नाम का भी आग्रह नही रखेगा।

ऐसा समझने के लिए कोई कारण नही कि किसी समय दुनिया मे विश्वधर्म तो एक ही हो सकता है। जिस तरह किसी कमरे मे रखे हुये चार-पाँच दीपक अपना-अपना प्रकाश सारे कमरे मे सर्वत्र फैलाते है, सारे कमरे के राज्य का उपभोग करते है और फिर भी अपने-अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हैं, उसी तरह अनेक विश्वधर्म एक साथ सारे जग के राज्य का उपभोग कर सकते हैं। धर्म मे द्वेष या मत्सर कहाँ से आयेगा? एक म्यान मे दो तलवारे नही रहेगी, एक दरबार मे दो मुत्सद्दी (राज नेता) कार्य नही करेंगे, लेकिन दुनिया मे एक साथ चाहे जितने धर्म साम्राज्य का उपभोग कर सकते हैं, क्योकि धर्म तो स्वभाव से ही अहिंसक होता है। धर्म के मानी ही है अद्रोह। जहाँ धर्म-धर्म के बीच झगडे चलते है और सरसावल की आकाक्षा दिखाई देती है, वहाँ यह मान ही लेना चाहिए कि उन लोगो के धर्म मे धार्मिकता नही रही है, धर्म के नाम से अधर्म की हुकूमत चल रही है। उनके हृदय मे धर्म का वीर्य क्षीण हो गया है। ऐसी हालत मे वही दुनिया को उबार सकेगा जो धर्मवीर होगा। महावीर होगा।

अहिंसा के सम्पूर्ण स्वरूप को हमे समझ लेना चाहिये। अहिंसा महावीर का धर्म है। सारी दुनिया को जीतने की आकाक्षा रखने वाले जिनेश्वर का धर्म है। जब तक दुनिया के एक कोने मे भी हिंसा होती रहेगी, तब तक यह अहिंसा धर्म पराजित ही है। सिर्फ सूक्ष्म जन्तुओ को कृत्रिम तरीको से भरण-पोषण देकर जिलाने से ही अहिंसा धर्म को सन्तोष नही होना चाहिए। जो महावीर है उसको चाहिए कि वह महावीर की तरह तमाम दुनिया का दर्द—पाँचो खण्डो का दर्द—खोजकर देख ले, और अपने पास की सनातन दवा वहाँ पहुँचा दे। महावीर के अनुयायियो को हृदय की विशालता और उत्साह की शूरता प्राप्त करके सभी जगह सचार करना चाहिए। सग्राम का वीर शस्त्रास्त्र लेकर दौडगा। अहिंसा का वीर आत्म-शुद्धि और करुणा से सुसज्जित होकर दौडेगा। सारी दुनिया को एक 'उपासरे' (जैन साधुओ का मठ) मे बदल देना चाहिए। छोटे मे उपासरे मे कितनो को आश्रय मिल सकेगा?

२७-७-२४

[२]

महात्मा गाँधीजी के साबरमती आश्रम मे रहकर मैने गाँधीजी की अहिंसा समझने की पूरी कोशिश और साधना की और हिंसात्मक क्रान्ति का मार्ग छोडकर अहिंसात्मक सत्याग्रह की ओर मुडा। मेरा अहिंसा का अध्ययन केवल दार्शनिक नही था। मै अपना जीवन अहिंसामय करने की कोशिश करता था। स्वाभाविक था कि गुजरात के अनेक जैनियो से मेरा परिचय बढा। उन्हो ने मुझे अपनी बिरादरी मे ले लिया। यहाँ तक कि पर्युषण-पर्व मे व्याख्यान देने के लिए मेरे बम्बई के मित्र मुझे वर्षों से बुलाते आये है। क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी जैसे जैन धर्म के प्रचारक को अभिनन्दन ग्रंथ अर्पण करने के लिए मुझे बुलाया गया था। इस तरह से जैन स्नेही मुझे अपनाते गये और धीरे-धीरे मै भी मानने लगा कि मै जैन हूँ। एक जैन कन्या ने मेरी पुत्रवधु बनकर उस भावना को मजबूत किया। मै अनेक जैन मन्दिरों मे श्रद्धा-भक्ति से गया हूँ और वहाँ प्रेम और आदर से मेरा स्वागत भी हुआ है। पालीताणा के पास शत्रुंजय के पहाड पर भी जैन मन्दिरो की यात्रा मैंने की है। आबू के जैन मन्दिरो की शिल्पकला का आस्वाद मैंने लिया है।

लेकिन हरिजन और देवद्रव्य का सवाल लेकर जैनियो मे शायद कुछ परिवर्तन हो रहा है। कुछ दिन हुए मैं अजमेर मे, जैनियो के सुवर्ण-मन्दिर मे गया था। इसके पहले भी एक बार गया था। अब की बार देखा तो जैनेतरो को अन्दर प्रवेश नही है। वैसे नोटिस लगी थी। मैने कहा कि नोटिस के अनुसार शायद मै अन्दर नही जा सकता हूँ, लेकिन दर्शन की अभिलाषा है। मुझे नही जाने दिया। मेरे साथ पदमचन्द्र सिंघी थे। वे जा सकते थे, लेकिन वे अन्दर नही गये। अजमेर मे मुझे अनुभव कराया गया कि मैं जैनेतर हूँ।

आजकल चन्द जैन कहने लगे है कि वे हिन्दू नही है। मरजी उनकी। मै तो हिन्दू उसे कहता हूँ, जिसका चित्त हिंसा से दुखी होता है।

हिंसा मनुष्य जाति के मन मे धीरे-धीरे प्रकट होती है, पहले स्थूल रूप मे। बाद मे वह सूक्ष्म होती है। हर एक युग मे अहिंसा कुछ आगे बढती है। भगवान् महावीर ही एक ऐसे थे जिन्होने अपने जमाने से बहुत आगे जाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहिंसा का उपदेश दिया।

जिस जमाने मे कही-कही मनुष्य का माँस खाने वाले भी लोग थे मनुष्य को गुलाम बनाकर बेचा जाता था, सैन्यो के बीच युद्ध होते थे और पशु माँस का आहार तो करीब सार्वत्रिक था। ऐसे जमाने मे पानी मे और हवा मे जो सूक्ष्म जन्तु होते है उनके प्रति भी आत्मीयता बतलाना और सारे विश्व मे अहिंसा की स्थापना करने का अभिप्राय रखना और यह विश्वास रखना कि इतनी व्यापक अहिसा भी मनुष्य हृदय कबूल करेगा और किसी दिन उसे सिद्ध भी करेगा, यह उच्च कोटि की आस्तिकता है। ईश्वर पर या शास्त्र पर विश्वास रखना गौण वस्तु है। मनुष्य-हृदय पर विश्वास रखना कि वह विश्वात्मैक्य की ओर अवश्यमेव बढेगा, यह सबसे बडी आस्तिकता है। इसलिए मैंने भगवान् महावीर स्वामी को आस्तिक शिरोमणी कहा है। उनका जमाना किसी-न-किसी दिन आयेगा ही।

आप हिन्दू का सकुचित अर्थ क्यो करते हे? सनातनी, वैदिकधर्मी, रुढिवादी तक हिन्दू धर्म सीमित नही हे। श्रमण और ब्राह्मण, बौद्ध और जैन, लिंगायत, सिक्ख, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी आदि सब मिलकर हिन्दू समाज बनता है। इस विशाल हिन्दू परम्परा मे जीवन को अखण्ड और अनुस्यूत माना है। जीवन की यह अखण्ड धारा पवित्र है। सब के प्रति आत्मीयता रखनी है।

सम पश्यन् हि सर्वंथ समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्ति आत्मनात्मान ततो याति परा गतिम्॥

यह गीता का श्लोक भी किसी भावना का एक उद्‌गार हे।

ऐसी व्यापक आत्मीयता मे ऊँच-नीच भाव और अस्पृश्यता को स्थान हो नही सकता। सनातनियो मे जो मलिनता आ गई थी, उसे दूर करने के लिए गौतम बुद्ध और महावीर जैसे धर्म-सुधारकों ने बडा पुरुपार्थ किया। उन्ही के अनुयायी अगर संकुचित बन जाये तो कैसे चलेगा।

रामटेक के जैन मन्दिर के द्वार पर अहिसा के परम प्रचारक महावीर स्वामी के मन्दिर की रक्षा के लिए हिंसा के शस्त्र और प्रतिनिधि क्यों आ गये? इसलिये आये कि मन्दिर मे महावीर के साथ उनके गहने भी है। यानि वहाँ कुबेर की उपासना हो रही है। सम्पत्ति को मैं लक्ष्मी नही कहूँगा। लक्ष्मी तो कुदरत की समृद्धि है, पवित्रता की शोभा है। लक्ष्मी तो

परम भगवत वीतराग की उपासना है। सत्य शुभ और पावन है। उधर धन-दौलत तो बड़े पेट में समाया हुआ सामाजिक द्रोह है। उसका प्रतीक तो कुबेर ही हो सकता है।'

इस कुबेर की उपासना सारी दुनिया में चलती है। इसीलिये एटम बॉम्ब और हाइड्रोजन बॉम्ब तक शस्त्रास्त्र की तैयारी करनी पड़ती है।

हमें हरिजन तो क्या, दुनिया के किसी भी देश के और जाति के, पंथ के या वंश के मनुष्य का बहिष्कार नहीं करना है।

और, जैन मन्दिरों में भोग और प्रसाद, कच्ची रसोई, पक्की रसोई की कोई झंझट नहीं है। कोई अजैन जैन-मन्दिर में गया तो उसे अहिंसा की दीक्षा मिलने की सम्भावना अधिक है। मन्दिर या मन्दिर की मूर्ति भ्रष्ट कैसे हो सकती है? जब सारा भारत, हमारे पूज्य राष्ट्रपति और प्रधान-मन्त्री विश्व में परम धर्म अहिंसा का प्रचार कर रहे हैं, ऐसे समय में जैनियों का कर्तव्य क्या है? जैन शास्त्रों का सम्पादन करना, उन पर व्याख्या और टीका टिप्पणी लिखना, प्राचीन जैन ग्रंथों का संशोधन और अध्ययन करना, यह सब अच्छा है। लेकिन इतने से संतोष नहीं मानना चाहिए। समस्त दुनिया के सामने जो महान् आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और वांशिक सवाल खड़े हुए हैं, उनका हल अहिंसा के द्वारा, प्रेम-धर्म के द्वारा कैसे हो सकता है, इस के लिए कौनसी तपश्चर्या आवश्यक है, इसका चिंतन होना जरूरी है। हम प्रार्थना करें कि विश्वसेवा की हमारी इस साधना में भगवान् महावीर का प्रसाद और आशीर्वाद हम सबको प्राप्त हो और हमारी अहिंसा वृत्ति सबको अपनावे।*

---

* महावीर जयन्ती के निमित्त ता ७-४-५५ को नयी दिल्ली में दिया गया भाषण।

महावीर का जीवन संदेश

आज ससार की स्थिति विचित्र है। हिंसा से यदि कोई अधिक से अधिक डरते है, तो वे आज के यूरोपियन है। २५ वर्ष पहले प्रथम विश्वयुद्ध मे हुए सहार और नाश को वे आज भी भूले नही है। उन्हे भय है कि यदि फिर से युद्ध की ज्वाला भडक उठी तो हमें अपने सारे वैभव, सारे मौज-शौक, भोग-विलास और ऐश्वर्य से हाथ धोने पडेगे। यूरोप का मनुष्य यह सोचकर काँप उठता है कि आज संस्कृति के नाम पर जिस वैभव-विलास का आनन्द हम भोगते है, वह युद्ध होने पर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। युद्ध को टालने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार है। इसके लिए वह दिये हुए वचनो को भग करेगा, किये हुए कौल-करारो को भुला देगा, अपमानो का कडवा घूट पी जायगा, अपने साथियो को धोखा देगा और कैसे भी अप्रिय लोगो के साथ मित्रता बाँधेगा। युद्ध को टालने के लिए वह अपने जीवन-सिद्धान्तो को भूसी की तरह हवा मे उडा देगा। लेकिन इतना सब करने के बाद भी वह युद्ध को टाल नही सकेगा। इन्द्रिय-परायण जीवन, भोग-विलास, वासनाये, लोभ, भय, महत्त्वाकाक्षा और परस्पर अविश्वास उसे शाति से बैठने नही देंगे। हिंसा से भयभीत बना हुआ यूरोप का मनुष्य सारी दुनिया को हिंसा की दीक्षा दे रहा है और मारने की कला का विकास करने के लिए जीवन की कई अच्छी शक्तियों को नष्ट कर रहा है। आज वह जिस युद्ध को टालना चाहता है उसी युद्ध को जोरो से खीच कर अपने निकट ला रहा है।

ऐसी विचित्र परिस्थिति मे आज हम एक बार फिर भगवान् महावीर के सन्देश को उज्ज्वल बनाना चाहते है।

इस धार्मिक सन्देश को ग्रहण करने के लिए आज की दुनिया तैयार नही है। यह शान्ति का मार्ग तो है, किन्तु इस मार्ग पर चलने मे मनुष्य को अभी आनन्द नही आता। पहले वह दूसरे सारे मार्ग आजमायेगा और सब तरह से हारने के बाद ही लाचारी से इस सच्चे मार्ग पर आयेगा।

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह ऐसे उपायो पर विश्वास रख कर उन्हे पहले आजमाता है, जिनमे कोई सार नही होता। आज यूरोप मे जो अनेक मार्ग सुझाये जाते है, उनसे हमे आश्चर्य होता है। हमारे यहाँ के पुराने

लोग जब तर्क और न्याय, दर्शन और मीमासा की बात को ले बैठते है और घटत्व तथा पटत्व का और अवच्छेदकावच्छिन्न का पिष्ट-पेषण करते है, तब हम उन पर हँसते है और कहते है कि जिनका जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नही, तत्त्व से जो सर्वथा दूर है, ऐसी निरर्थक बातो की चर्चा मे ये लोग क्यो पडते होग ? हम कहते है कि उनकी उन बातो मे जीवन को स्पर्श करने वाला थोडा भी अश नही होता । यूरोप मे भी जब लोग व्यक्तिवाद और समष्टिवाद, समाजवाद और साम्यवाद की चर्चा करते है तब मन मे विचार आता है कि इन अनेक 'वादो' से क्या लाभ होने वाला है ? मनुष्य जब तक अपने स्वभाव और जीवन मे परिवर्तन न करे तब तक हम कोई भी 'वाद' (Ism) क्यो न चलाये, अत मे हम वही आ पहुँचेंगे जहाँ पहले थे । स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि जगत का दुख सधिवात (गठिया रोग) जैसा है । ऊपर के लेप से वह मिटने वाला नही है । सिर से उसे निकालो तो वह पैर मे बैठ जाता है । पैर मे उसे निकालो तो वह कधे मे धस जाता है । वह अपना स्थान तो बदलता रहेगा, लेकिन शरीर को नही छोडेगा । आप यदि व्यक्तिवाद को चलायेंगे तो दुनिया को एक प्रकार का दुख भोगना पडेगा । व्यक्तिवाद के स्थान पर यदि आप समष्टिवाद को स्वीकार करेंगे, तो पुराने दुख मिटकर उनके स्थान पर नये दुख पैदा हो जायेंगे । जकात को टालने के लिए रात भर जगल मे भटकने के बाद सवेरे गाडी जब रास्ते पर आई तो ठीक जकात-नाके के सामने ही ! जकात के पैसे तो चुकाने ही पडे, ऊपर से रात भर जगल मे व्यर्थ भटके सो अलग ! यही दशा आज की दुनिया की है । आचार्य एल. पी जैक्स ने ठीक ही कहा है कि आज की दुनिया सम्पत्ति को सामाजिक बनाना चाहती है, राज्यसत्ता को सामाजिक बनाना चाहती है, किन्तु मनुष्य को और उसके स्वभाव को सामाजिक बनाने की बात उसे नही सूझती । जब तक यह नही होता तब तक किसी भी 'वाद' की सच्ची स्थापना नही होगी, और यदि मनुष्य का चरित्र सुधर गया तब तो किसी भी 'वाद' से हमारा काम चल जायेगा । इसका एक सुन्दर उदाहरण मैं आपके सामने रखता हूँ ।

शराब की बुराई से सारी दुनिया त्रस्त है । अमेरिका ने कानून बनाकर इस बुराई को दूर करने का प्रयत्न किया । जिन लोगो ने कानून बनाने की सम्मति दी, उन्हे स्वय शराबबदी की कोई परवाह नही थी । समाज मे प्रतिष्ठा भोगने वाले बडे-बडे स्त्री-पुरुष भी खुले आम कानून का भग करने

मे बहादुरी मानने लगे और एक-दूसरे के सामने इस बात की डीग हाँकने लगे कि उन्होने शराबबदी का कानून कैसे तोडा है। इसी शराबबदी का हमारा इतिहास अमेरिका से भिन्न है। हमारे देश मे बसने वाली सारी ही जातियो के दिल मे शराब के लिए नफरत है। नियमित रूप मे और खुले आम शराब पीने वाले लोग भी यह स्वीकार करते है कि शराब बुरी चीज है। उससे छूटने की शक्ति भले ही उनके भीतर न हो, लेकिन इसमे कोई उनकी मदद करे तो वे निश्चित रूप से शराब की लत से मुक्त होना चाहते है। सम्पूर्ण राष्ट्र का चरित्र शराबबन्दी के पक्ष मे होने के कारण हमारे देश मे शराबबन्दी का कानून बनाना आसान साबित हुआ। कुछ आधुनिक वृत्ति वाले विकृत लोग शराब के पक्ष मे दलील करते है सही। लेकिन ऐसे लोग तो इने-गिने ही हैं, और उनमे से कुछ तो यह कहते भी है कि हमारी पार्टी की नीति के नाते ही हम ऐसी दलील करते है।

ऐसे लोगो की बात हम छोड दे। मुझे कहना तो यह है कि यदि हम राष्ट्र के चरित्र का विकास कर सके, तो किसी भी 'वाद' की समाज रचना मे हम मनुष्य-जाति को सुखी बना सकेंगे।

महावीर जैसे सत पुरुषो ने ससार को यह मार्ग दिखाया है। चरित्र-बल बढाओ, सयम सिद्ध करो, वासनाओ को जीतो, असामाजिक वृत्तियो का नाश करो और राग-द्वेष मे निहित हीनता को पहचान कर दोनो को हृदय से निकाल फेंको, तो हिंसा का मार्ग अपने आप क्षीण हो जायगा। यदि हिंसा को टालना है और अहिंसा की स्थापना करनी है, तो केवल राजतत्र को बदलने से यह ध्येय सिद्ध नही होगा, राष्ट्रसघ रचने से यह समस्या हल नही होगी। इसके लिए तो मनुष्य के स्वभाव मे सुधार करना होगा, सयम-रूपी तप करना होगा। यही सच्ची साधना है। कोई पामर मनुष्य यह कार्य नही कर सकता। बाहरी शत्रु से लडना आसान है, किन्तु भीतर के विकारो का नाश करना कठिन है। इसके लिए वीरत्व की आवश्यकता होती है। महावीर ने अपने भीतर इस शक्ति का विकास किया और दुनिया को उसे दिखा दिया।

महावीर स्वभाव से ही प्रयोग-वीर थे। उन्होने जो अनेक प्रयोग किये ये उन्हे हम तप कहते है। उस तप का मार्ग सब के लिए एक-सा नही

हो सकता। प्रत्येक मनुष्य को अपना प्रयोग करना चाहिये और अपना मार्ग खोज लेना चाहिये। जो मनुष्य प्रयोग-वीर नही है वह यदि बिना सोचे-विचारे महावीर के वचनो के अनुसार केवल बाह्य जीवन ही जीने का प्रयत्न करेगा, तो उसे महावीर की सिद्धि नही मिलेगी। इसके विपरीत, जो मनुष्य महावीर से प्रेरणा लेकर और उनके प्रयोगो के रहस्य को समझ कर, उनके मुख्य जीवन-सिद्धान्तो के अनुसार अपना जीवन बनाने के लिए निजी ढग का स्वतन्त्र प्रयत्न करेगा, वही महावीर की परम्परा का माना जायगा और भगवान् महावीर उसी को अपना आत्मीय जन समझेगे।

आज जब ससार अनेक दृष्टियो से व्याकुल हो उठा है तब इस व्यापक जीवन की मुख्य उलझन का हल ढूँढना जरूरी हो गया है। इसके लिए महावीरो की आवश्यकता है, प्रयोग-वीरो की आवश्यकता है। ऐसे लोग अपनी श्रद्धा को दृढ बनाने के लिए महावीर के जीवन को समझेगे और स्वय ही ऊँचे उठने का प्रयत्न करेगे। महावीर के स्मरण और चिंतन से हम ऐसी प्रेरणा प्राप्त करे और अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का उद्धार करे।*

* १४-९-३९ को बम्बई मे दिये गये भाषण से।

धर्म संस्करण की आवश्यकता

धर्म सस्करण

•

सुधारक धर्म मे सुधार

•

धर्म-संस्करण : १

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा धर्म प्राचीन से प्राचीन है, इसलिये वह अच्छा है। कुछ लोग कहते है कि हमारा धर्म अन्तिम से अन्तिम है, इसलिये वह ताजा है। कुछ और लोग कहते हैं कि अमुक पुस्तक आद्य धर्मग्रन्थ हैं, इसलिये उसमें सब कुछ आ जाता है। दूसरे लोग कहते है कि अमुक ग्रन्थ ईश्वर के द्वारा जगत को दिया हुआ अन्तिम से अन्तिम धर्मग्रन्थ है, इसलिये उसे स्वीकार करना चाहिये।

सनातन-धर्मी इस बारे में दूसरी ही दृष्टि से विचार करते है। आज की सृष्टि का आदि और अन्त हो सकता है। धर्मग्रन्थों का भी आदि और अन्त हो सकता है। परन्तु धर्म अनादि और अनन्त है, इसीलिये वह सनातन कहलाता है। सनातन का अर्थ क्या है? जो इस सृष्टि के आरम्भ से पहले भी था और इस सृष्टि के अन्त के बाद भी रहेगा वह सनातन है। इस अर्थ में केवल आत्मा और परमात्मा ही सनातन माने जायेंगे।

लेकिन सनातन का एक दूसरा अर्थ है। जो स्वभाव से ही नित्य-नूतन है, वह सनातन होता है। जो जीर्ण होता है वह मर जाता है, जो बदलता नहीं वह सड जाता है, जिसकी प्रगति नहीं होती उसकी अधोगति होती है। रुकी हुई हवा बदबू करती है। न बहने वाला पानी स्वच्छ नही रहता। पहाड के पत्थर बदलते नहीं, इसीलिये धीरे-धीरे उनका चूरा हो जाता है। घास बार-बार उगती है, इसलिये वह ताजी रहती है। जगत की वनस्पति हर साल सूख जाती है और हर साल फिर से उगती है। बादल खाली होते है और फिर पानी से भर जाते हैं। प्रकृति को नित्य-नूतन बनने की कला प्राप्त हो गई है, इसीलिये प्रकृति सदा नवयौवना दिखाई देती है।

इस सिद्धान्त को जानने के कारण ही सनातन धर्म के व्यवस्थापकों ने युगधर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न धर्मों की व्यवस्था की है। काल की महिमा जानने के कारण ही वे काल को जीत सके हैं। धर्म के आध्यात्मिक सिद्धान्त अचल और अटल है। परन्तु उनके व्यवहार को देश-काल के अनुसार बदलना पडता है। इसका ज्ञान होने के कारण धर्मकारों ने हिन्दू धर्म की बुनियादी

रचना मे ही परिवर्तन का तत्त्व रख दिया है। इसीलिये वह धर्म सनातन पद प्राप्त कर सका है। अनेक वार क्षीणप्राण होने पर भी वह निष्प्राण नही हुआ है। मनुष्य की जडता के कारण अनेक वार इस धर्म मे सडाध पैठी है, फिर भी किसी प्रकार के विप्लव के विना उसका पुनरुद्धार हुआ है।

सामाजिक व्यवस्था मे अथवा धार्मिक विधियो के रिवाज मे समय के अनुकूल परिवर्तन होना चाहिये, परन्तु जब से हिन्दू समाज मे अवुद्धि ने जड जमायी है तव से ऐसे परिवर्तनो की ओर हिन्दू लोग शका की दृष्टि से देखने लगे है। पूर्वजो की अपेक्षा हमारा सयानापन वढ ही नही सकता, पूर्वज तो त्रिकाल का विचार करने वाले थे, उनकी रची हुई व्यवस्था मे यदि हस्तक्षेप करेगे तो पता नही कौनसे सकट मे हम पड जायेगे—ऐसा कायर भय अथवा नास्तिकता हमारे भीतर घुस गई हे। सच पूछा जाय तो परि-वर्तन का भय सनातन धर्म के स्वभाव के विरुद्ध है। गहरे विचार के विना चचलता के कारण किये जाने वाले परिवर्तन की कोई हिमायत नही करेगा, परन्तु अज्ञानता के कारण प्रगति से डरकर निष्प्राण स्थिरता खोजने मे पुरुपार्थ नही वल्कि मृत्यु ही है।

अपने धर्म को त्याग कर दूसरो का धर्म ग्रहण करना एक वात है, और अपने तथा दूसरो के धर्म की जॉच करके अपने धर्म मे आवश्यक परि-वर्तन और सुधार करना दूसरी वात है। ईश्वर प्रत्येक युग मे हमारे सामने नई-नई परिस्थितियाँ खडी करके हमारी बुद्धिशक्ति को सक्रिय बनाये रखता है और इस प्रकार धर्म के मूल सिद्धान्तो के हमारे परिचय को जाग्रत रखता है। यदि धर्म के वाह्य आकार मे परिवर्तन न हो, तो उसके भीतरी तत्त्व का शुद्ध आकलन हो ही नही सकता। हमारे जमाने मे यदि पूर्वजो की ही नकल करने का काम रह जाय, नया कुछ भी करना, जानना अथवा खोजना वाकी न रह जाय, तव तो कहा जायगा कि हमारी शताब्दी निरर्थक और वध्या ही सिद्ध हुई है।

हमारे देश मे प्राचीन काल से हर तरह एक-दूसरे से अलग पडने वाले धर्म और वश साथ-साथ रहते आये है। ऐसे सहवास के कारण हमे हर समय धर्म-प्रवचन अलग-अलग ढग से करना पडा है। जिस प्रकार की शका दूर करनी हो, जिस प्रकार के दोष मिटाने हो, उसी के अनुसार हमे एक ही धर्म-सिद्धात को नई-नई भाषा मे और नये-नये रिवाजो के रूप मे प्रस्तुत

करना पडता है। इसीलिये हमारा धर्म अनेक पहलुओं वाले तेजस्वी रत्न के समान दिव्य से दिव्यतर बनता रहा है।

जब हम विदेशी सत्ता के अधीन रहते है तब धर्म को अत्यन्त कृत्रिम और हीन वातावरण सहन करना पडता हे। जब किसी देश पर विदेशी लोगो का आक्रमण हो रहा हो उस समय धर्म-संस्करण मे स्वाभाविक विकास नही रहता। हम कोई परिवर्तन करने जाय और हमारे विरोधी हमारी कमजोरी देखकर मर्मस्थान पर आघात करें तो ?—यह भय हमेशा बना रहता हे। विदेशी सत्ता स्वभावत समभाव से शून्य होती हे। वह रूढियो को तो टिके रहने देती है, लेकिन हमारी शक्ति को बरदाश्त नही कर सकती। इसीलिये विदेशी सत्ता के कानून कहते है 'तुम्हारे जो रीति-रिवाज परम्परा से चले आये है उन्हीं को सरक्षण मिलेगा। तुम नये रिवाज चालू नही कर सकते। तुम जहाँ हो वहाँ से हट नही सकते। पुराने कलेवर को हमारा अभय-दान है। लेकिन यदि हम तुम्हारे प्राण को, तुम्हारी शक्ति को राज्य की मान्यता दे, तब तो हमारा प्रभुत्व तुम्हारे देश में टिक ही नही सकता।' ऐसी समभाव-शून्य तटस्थता मे सडी-भुसी रूढियाँ भी कानून की कृत्रिम सहायता से टिक सकती है।

ब्रिटिश राज्य के कारण हमारे यहाँ 'हिन्दू लाँ' के अमल मे यह स्थिति कदम-कदम पर बाधक सिद्ध हुई है। न्यायमूर्ति तेलग अकसर इस स्थिति के विरुद्ध अपनी नाराजगी और खीज प्रकट किया करते थे। प्रत्येक धर्म और प्रत्येक समाज को अपनी व्यवस्था मे चाहे जैसा परिवर्तन करने का अधिकार होना ही चाहिये। परन्तु ऐसा करने के लिए जो स्वतन्त्रता, एकता और योजना-शक्ति आवश्यक है, वह उस-उस समाज मे होनी चाहिए। बडी से बडी कीमत चुका कर भी हमे इन गुणों का विकास करना चाहिये। हिन्दू धर्म को यदि टिकाये रखना हो और जगत मे इसका स्वाभाविक स्थान फिर से दिलाना हो, हिन्दू धर्म को यदि समाज के लिए कल्याणकारी बनाना हो, तो हमे साहस के साथ उसका मैल धो डालना चाहिए। ऐसे कितने ही रिवाज और और अन्ध-विश्वास हमारे समाज मे घुस गये है, जो धर्म के सनातन सिद्धान्तो के विरोधी है और जिनकी वजह से समाज की सारी प्रगति रुक जाती है। इन सब को तुरन्त जलाकर भस्म कर देना चाहिये।

अस्पृश्यता एक ऐसी ही बुराई है। जाति के विषय मे उत्पन्न होने वाला अहकार और प्रेम की सकुचितता, व्यापक आत्मीयता का अभाव—यह

दूसरी बुराई है। जहाँ रुढि के नाम पर दयाधर्म का खून होता है, जहाँ आत्मा अपमानित होती है, जहाँ धर्म-प्रीति के स्थान पर लालच और भय को स्थान दिया जाता है वहाँ धर्म को इन सब के खिलाफ अपनी अधिकार पूर्ण बुलद आवाज उठानी चाहिये। हर जगह सरकारी अधिकारी और कर्मचारियो को रिश्वत देकर अपना मतलब निकालना सीखे हुये लोग एक ईश्वर को छोडकर उसके स्थान पर अनेक भयानक शक्तियो को प्रलोभन देने मे अपना धर्म समझने लगे। निरकुश, क्रोधी, तरगी और खुशामद-पसद अधिकारियो के जुल्म मे रहकर नामर्द और कायर बने हुए लोगो ने देवी-देवताओ के बारे मे भी वैसी ही निरकुशता, क्रोध आदि की कल्पना करके उनके प्रति भी अपने भीतर डरपोक की वृत्ति बढा ली। इस प्रकार हमने धर्म मे ही अधर्म का साम्राज्य स्थापित कर दिया। सत्यनारायण से लेकर शीतला माता तक के सब देवी-देवताओं को हमने डराने वाले गुण्डे (bullies) का रूप दे दिया। आकाश के तारे और ग्रह, जगल के पेड-पौधे और वनस्पतिया, हमारे भाईबद जैसे पशु और पक्षी, ऊषा और सध्या, ऋतु और सवत्सर—सब मे हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि परम मागल्य की प्रेममय विभूतियो के दर्शन करते थे और उनके साथ आत्मीयता तथा एकता का अनुभव करते थे, लेकिन हमे आज इन सब मे शाप का और कोप का भय ही भय दिखाई देता है। धर्म के शुद्ध और उदात्त स्वरूप को जानने वाले लोग हमारी धार्मिक विधियो मे निहित काव्य को समझ सकते है, परन्तु अज्ञानी जन-समुदाय उस काव्य को सनातन सिद्धान्त अथवा वास्तविक स्थिति मानकर विचित्र अनुमान लगा लेता है और धर्म के कार्य को विफल बना देता है।

आज हिन्दू धर्म का उत्कर्ष चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह अपने समाज मे धर्म का शुद्ध स्वरूप प्रकट होने की आतुरता से प्रतीक्षा करे। इस बात को हमे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और दूसरो को समझाना चाहिये कि जिस धर्म मे सत्य की निर्भयता और प्रेम की एकता नही है, जिसमे नि स्वार्थ त्याग की भावना नही है, जिसमे उदारता की सुगध नही है, वह धर्म नही है। अब हिन्दू धर्म के सस्करण और परिष्करण का समय आ गया है, क्योकि उसके ऊपर जमी हुई अशुद्धि की परते अब उसका दम घोटने लगी है।

१९४२

धर्म-संस्करण : २

१

एकमात्र धर्म ही मानव-जीवन का सब पहलुओं से और समग्र रूप में विचार करता है। जीवन का स्थायी अथवा अस्थायी एक भी अंग ऐसा नहीं है, जिस पर विचार करना धर्म अपना कर्तव्य नहीं मानता।

इसलिये धर्म मनुष्य के सनातन जीवन जितना ही अथवा उससे भी अधिक व्यापक होना चाहिये, और चूंकि समस्त जीवन उसका क्षेत्र है, इसलिये उसे अत्यन्त उत्कट रूप में जीवित और प्राणवान होना चाहिये।

आज जगत के जितने भी प्रसिद्ध धर्म हैं, वे अधिकांश ऐसे व्यापक धर्म हैं। अपनी स्थापना के समय तो वे सब जीवित थे ही। परन्तु धार्मिक पुरुषों ने उनकी चेतना को बार-बार जगाकर उन्हें जीवित बनाये रखा है। सिगड़ी की आग जिस प्रकार स्वाभाविक रूप में ही बार-बार मंद पड़ जाती है और इसलिये बार-बार उसमें कोयले डाल कर और फूंक कर उसका संस्करण करना पड़ता है, उसे प्रज्वलित रखना पड़ता है, उसी प्रकार समाज में धर्म-तेज को जाग्रत रखने के लिए धर्म-परायण समाज-पुरुषों को उसे फूंकने और उसमें ईंधन डालने का काम करना पड़ता है। यह काम यदि समय-समय पर न किया जाय, तो धर्म-जीवन क्षीण और विकृत हो जाता है, और धर्म का क्षीण और विकृत रूप अधर्म के जितना ही हानिकारक होता है। धर्म को चेतनावान और प्रज्वलित रखने का कार्य केवल धर्म-परायण व्यक्ति ही कर सकते हैं। यह शक्ति न तो धर्मग्रन्थों में होती है, न धार्मिक रीति-रिवाजों या संस्कारों में होती है, न धार्मिक संस्थाओं में होती है और न धर्म को सहारा देने वाली राज्य-व्यवस्था में होती है। शास्त्रग्रन्थ, संस्कार, रीति-रिवाज और धार्मिक तथा राजकीय संस्थायें धार्मिक जीवन के लिए कम-अधिक मात्रा में उपयोगी हैं जरूर, यह भी सच है कि धार्मिक वातावरण को स्थिर बनाने में उनकी सेवा बहुमूल्य सिद्ध हुई है। परन्तु मूल शक्ति तो धर्मप्राण ऋषियों की, संतों की और महात्माओं की ही होती है। पवित्र मनुष्य-हृदय ही धर्म का अन्तिम आधार है। उपनिषद् का यह वचन बिलकुल यथार्थ है 'धर्मशास्त्र महर्षीणां अंतःकरण-संभृतम्।'

धर्म-जिज्ञासा और धर्म-चिन्तन मनुष्य का स्वभाव ही है। इस कारण से प्रत्येक ५५ न और प्रत्येक प्रदेश मे उन्नति की कक्षा के अनुसार मनुष्य के हृदय मे धर्म का आविर्भाव होता ही रहा है। यह हृदय-धर्म कितना ही कलुषित, कितना ही मलिन क्यो न हो जाय, फिर भी मूल वस्तु तो शुद्ध ही रहती है। अशुद्ध सोना पीतल नही है, और पीतल चाहे जितना शुद्ध, चमकीला और सुडौल हो, फिर भी वह सोना नही है। इसी प्रकार केवल बुद्धि के जोर पर खडा किया गया, लोगो के हृदय मे रहने वाले राग-द्वेप से लाभ उठाकर आरम्भ किया गया और थोडे या वहुत से सामर्थ्यवान लोगो के स्वार्थ का पोषण करने वाला धर्म सच्चा धर्म नही है। असस्कारी हृदय की क्षुद्र वासना और दभ से उत्पन्न होने वाली विकृति को ढकने वाला शिष्टाचार अथवा चतुराई से भरे तर्क द्वारा किया हुआ उसका समर्थन भी धर्म नहीं है। अज्ञान (अर्थात् अल्पज्ञान), भोलापन और अधश्रद्धा—इन तीन दोपो से कलुपित बना हुआ धर्म अधर्म की कक्षा को पहुँच जाय, यह एक बात है, और मूल में ही जो धर्म नही हैं वह केवल चालाकी से धर्म का रूप धारण कर ले, यह दूसरी बात है। मनुष्य-समाज अब इतना प्रौढ और अनुभवी हो गया है कि मानव-इतिहास मे धर्म के ऊपर कहे गए दोनो प्रकार व्यापक रूप मे पाये जाते है। परन्तु इन दोनो प्रकारो का पृथक्करण करके इनके सच्चे स्वरूप को पहचानने का कष्ट अभी तक मनुष्य ने नही किया है।

हृदय-धर्म जब बुद्धि-प्रधान लोगो मे अपना कार्य आरम्भ करता है, शिष्ट लोगो द्वारा मान्य किया हुआ धर्म बनता है और इसलिये जब वह सस्थावद्ध हो जाता है तब उसके शास्त्र रच जाते है, शास्त्रो का अर्थ लगाने वाली मीमासा-पद्धति उत्पन्न होती हैं और अन्तिम निर्णय देने वाले शास्त्रज्ञो का एक वर्ग खडा होता है, अथवा पोप या शकराचार्य के समान अधिकाररूढ व्यक्तियो को मान्यता प्राप्त होती है।

धर्म को शास्त्रवद्ध और सस्थावद्ध वनाने का कार्य बुद्धि-प्रधान और व्यवहारकुशल लोगो के हाथो होता है, इसलिये धर्म की स्वाभाविक भविष्योन्मुख दृष्टि क्षीण हो जाती है और उस पर भूतकाल की ही परतें चढ जाती हैं। भूतकाल मे सदा अग्नि की अपेक्षा भस्म ही अधिक होती है, इसलिये धर्मतेज मद पड जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म का समय-समय पर सस्करण या परिष्करण करना जरूरी हो जाता हे।

सत तुकाराम जब बाजार जाने को निकलते थे तब उनकी सज्जनता का लाभ उठाने के लिए कई लोग अपनी-अपनी तेल की नली तेल लाने के लिए उन्हे सौप देते थे और तुकाराम भी सतोप के साथ उन नलियो की भारी माला को गले मे डालकर सौपा हुआ काम नियमित रूप से पूरा कर देते थे। जन-स्वभाव ही ऐसा होता है। कोई बालक या कोई आदमी किसी की बात सुनता है, यह मालूम होते ही निकम्मे लोगो का समाज उससे अपना काम करवाने के लिए तैयार हो जाता है। कोई नाव या जहाज नियमित रूप से और तेजी से अपने नियत स्थान पर पहुँचता है, ऐसा पता चलने पर लोग उसी मे अपना माल भरने का आग्रह रखते है—और वह भी इस हद तक कि उसकी गति मद पड जाय और अत्यधिक बोझ से वह डूबने लगे। धर्म की भी इसी तरह की सार्वभौम उपयोगी शक्ति को देखकर हर गरजमद आदमी ने अपनी गरज को किसी न किसी रूप मे धर्म के गले मे लटकाया है। इस कारण से भी धर्म का तेज बार-बार हीन और क्षीण होता आया है।

जिस प्रकार कोई चालू दूकान अपनी तरक्की को बनाये रखने और बढाने के लिये पुराना और निकम्मा हो चुका माल बार-बार हटाया करती है और केवल पडे रहने के कारण बिगडे हुए माल को साफ-स्वच्छ करके उजला और चमकीला बना देती है, उसी प्रकार धर्म का भी बार-बार सस्करण और परिष्करण करना चाहिये। परन्तु यह सस्करण ऐसे कुशल और धर्मज्ञ समाज-सेवको द्वारा ही होना चाहिये, जिनमे खरे सोने को परखने और उसे सुरक्षित रखने की शक्ति है। आज दुनिया मे बढी हुई अधिकतर प्रचलित नास्तिकता का मुख्य कारण धर्म-सस्करण का अभाव ही है।

२

किसी भी समाज के वृद्ध अथवा क्षीणवीर्य होने के मुख्य कारण दो है इन्द्रिय-परायण विलासिता और धर्म-जडता।

समाज जब विलासी बन जाता है तो उसके पास की धन-दौलत उसके लिए पर्याप्त नही होती, उसका पुरुषार्थ अपने आप घट जाता है और 'ऐसा हो तो भी क्या और वैसा हो तो भी क्या? किसी मे कुछ नही है' इस तरह की निष्क्रियता और आलसीपन उस पर सवार हो जाता है। उसके बाद नये-नये अनुभव लेने के बजाय वह प्राचीन अनुभवो के बारे मे कृत्रिम तथा दभ-

पूर्ण ग्रादर और ग्राग्रह को वढाकर उन्हे ढाल के रूप मे ग्रपने सामने रखता है।

दूसरी ग्रोर जव मनुष्य मे वौद्धिक जागृति मद पड जाती है ग्रौर प्रयोग की ग्रपेक्षा प्रामाण्य पर ही ग्रधिक भार देने की वृत्ति वढ जाती है, तव समाज मे एक प्रकार की धर्म-जडता उत्पन्न होती है। यह धर्म-जडता दिखती तो है धर्माभिमान जैसी ही, परन्तु वास्तव मे उसका रूप लापरवाही का होने से वह एक प्रकार की नास्तिकता ही होती है। ग्रनुभव यह नही वतलाता कि ग्रभिमान ग्रौर ग्राग्रह के मूल मे सच्चा ग्रादरभाव ग्रथवा सच्ची श्रद्धा होती ही है।

ग्राज भारत मे ग्रामीण समाज की दुर्दशा का कोई पार नही है। शहरो से विदेशी माल ग्रौर मौज-शौक की चीजे गाँवो मे पहुँचती है, लेकिन उद्योग धन्धे नही पहुँचते। शहरो का उडाऊपन, ग्रसस्कारिता तथा ग्रन्य समाज घातक दुर्गुण गाँवो मे तेजी से फैलने लगे है। लेकिन शहरो मे जो धार्मिक विचार-जागृति, राजनीतिक प्रगति ग्रौर समाज-सुधार कुछ अशो मे दिखाई देता है, उसका प्रभाव वहुत ही कम मात्रा मे गाँवो मे पहुँचता हैं। जिस हिन्दू धर्म से ग्रौर ग्रार्य तत्त्वज्ञान से ग्राज हम जगत को प्रभावित ग्रौर चकित कर देते हैं, वह धर्म ग्रौर वह तत्त्वज्ञान जिस विकृत रूप मे ग्राज के ग्राम समाज मे प्रचलित हैं, उसे देखकर यही कहना पडेगा कि 'नेद यदिदमुपासते।' देश-देशान्तर मे प्रशसा पाने वाला हमारा धर्म ग्रौर गाँवो मे पाला जाने वाला धर्म एक है ही नही। गाँवो मे कल तक सच्ची धर्म निष्ठा, पवित्र ग्रास्तिकता ग्रौर ऊँचा चरित्र-वल था, ग्राज भी कही कही जिनके ग्रवशेप दिखाई पडते है। परन्तु ग्रवुद्धि, जडता ग्रौर छिपी नास्तिकता का ही साम्राज्य वहाँ सर्वत्र फैलता दिखाई दे रहा है। इस कारण से गाँव के समाज मानस मे वृद्धत्व ग्रधिक मालूम होता है। गाँवो मे ग्रज्ञान है, रोग है, गरीबी है। इन तीनो को यदि गाँवो से हटाया नही गया, तो ग्राम-समाज ग्रब टिक ही नही सकेगा। परन्तु प्रश्न यह है कि ज्ञान, स्वास्थ्य ग्रौर उद्योग वाहर से गाँव के लोगो पर कहाँ तक लादे जा सकते है? वाहर से लादे जाने वाले उपायो की एक मर्यादा होती है। इस तारक त्रिपुटी का स्वीकार गाँव के लोगो को स्वेच्छा से ही करना चाहिये। ग्रौर तीनो का स्वेच्छा से स्वीकार हो इसके पूर्व ग्राम-समाज का वृद्धत्व दूर होना चाहिये। उस समाज मे उत्साह ग्रौर जागृति ग्रानी चाहिये। धर्म-सस्करण के विना यह वात सभव नही होगी। ग्रत दूसरी सव वातो से पहले गाँवो मे धर्म सस्करण का समुचित प्रयत्न होना चाहिये।

गांवों में जिस धर्म का पालन होता है उसमें भय, रिश्वत, दैववाद और जंतर-मंतर का कर्मकाण्ड ही मुख्य होता है—फिर वह धर्म हिन्दुओं का हो, मुसलमानों का हो या ईसाइयों का हो। गांव के लोगों को अपनी दुर्बलता का, अज्ञान का, भोलेपन का और अनाथ स्थिति का अनुभव से उत्पन्न इतना कड़वा ज्ञान होता है कि वे स्वाभाविक रूप से ही शक्ति के उपासक बन जाते हैं, फिर भले ये लोग जैन हों या लिंगायत हों। इस अज्ञान-मूलक शक्तिपूजा से ही जादू-टोने और जंतर-मंतर पर लोगों की आस्था जमती है। धर्म यानी बलवान की आराधना अथवा खरीदा हुआ उनका संरक्षण—सामान्य जनता धर्म का अर्थ यही समझती है।

धर्म के द्वारा मानव्य पर मनुष्य की श्रद्धा बढ़ानी होती है, चरित्र की तेजस्विता को स्वाभाविक बनाना होता है। संसार के अनुभव में पद-पद पर जो विषाद प्राप्त होता है उसे दूर करने में समर्थ दैवी आश्वासन प्राप्त करना होता है और जीवन के अंगभूत प्रत्येक तत्त्व का नूतन दृष्टि से नया ही मूल्यांकन करना होता है। सफलता और निष्फलता के खयालों को ही बदल कर इस भौतिक जगत में आध्यात्मिक स्वातंत्र्य सिद्ध करना होता है।

सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से यह दृष्टिभेद बहुत कठिन मालूम होगा लेकिन जहाँ हृदय के साथ हृदय बात करता है वहाँ उन्नत भूमिका का आमंत्रण हृदय पर गहरा असर करता है, और एक बार हृदय में परिवर्तन हो गया कि फिर किसी भी उपाय से उससे पीछे नहीं हटा जा सकता। हृदय का ऐसा आमंत्रण देने वाले व्यक्ति के अपने हृदय में किसी के बारे में तुच्छता का भाव नहीं होना चाहिये। हमारा आमंत्रण अमोघ है, ऐसी अमर आस्तिकता उसमें होनी चाहिये। साथ ही मनुष्य मात्र के हृदय के बारे में उसके दिल में प्रेम और आस्था—आदर होना चाहिये।

धर्मज्ञान देते या लेते समय उसे ग्रहण करने वाले के अधिकार के विषय में आज तक अपार चर्चा हुई है। लेकिन अब धर्मज्ञान देने वाले व्यक्ति के अधिकार की गहरी चर्चा करने के दिन आये हैं। ऊपर बताई हुई आस्तिकता जिन लोगों में हो, उन्हीं को धर्मबोध और धर्म-संरक्षण का कार्य अपने सिर लेना चाहिये।

आज गांवों में धर्मान्धता के रूप में नास्तिकता कितनी फैली हुई है, इसका सच्चा खयाल होने पर मन को गहरा आघात ही लगना चाहिये—और लगता भी है।

प्रत्येक धर्म अनेक तरह के जीवन-काव्य से भरपूर होता है। सच पूछा जाय तो धर्मज्ञान का समर्थ वाहन दलील या युक्ति और तर्क नही है, उसका सच्चा वाहन काव्य है। इसलिए काव्य-विहीन धर्म हो ही नही सकता। परन्तु जहाँ-जहाँ समाज मे अज्ञान और जडता का साम्राज्य होता है वहाँ धार्मिक काव्य के शब्दार्थ को ही सच्चा मान लिया जाता है, और अपने अज्ञान के कारण मनुष्य जहाँ न हो वहाँ भी गूढता और जादू का आरोपण करने लगता है। इस वृत्ति से अधिक धर्मविघातक वृत्ति कोई हो सकती है या नही, इसमे मुझे शका ही है। इसके विपरीत, धर्म के विषय मे बढने वाले इस पागलपन से ऊबे हुए लोग ऐसे मौको पर धर्म मे भरे हुए काव्य को जड से मिटा देने का निरर्थक और निष्फल प्रयत्न करते है। सच्चा उपाय तो यह है कि लोगो की बुद्धि को तीव्र बनाया जाय और उनकी काव्यरसिकता को विवेक पूर्ण बनाकर धर्म मे काव्य की वृद्धि की जाय। लोगो की काव्यरसिकता बढने पर वे धर्म को आसानी से समझ सकेंगे और धर्म मे घुसे हुए अधविश्वासो को भी पहचान सकेंगे।

परन्तु यह सब करने के लिए ज्ञानवान लोगो को शहरी आदतें छोडकर गाँवो की जनता के श्रम से पवित्र और प्रकृति से मधुर बने हुए दैनिक जीवन मे ओतप्रोत हो जाना चाहिए। ग्रामवासियो के जीवन से अलग रहकर उनके सरपरस्त, आश्रयदाता बनने से अब काम नही चलेगा।

कोई भी समाज युग-कल्पना से पीछे रहकर सफल नही हो सकता। आज का युग केवल सैद्धान्तिक मानव-समानता का युग नही है। स्त्री-पुरुष की समानता को और जातियो की समानता को आज अमली रूप मे स्वीकार करना होगा। इतना ही नही, सब धर्मों को भी समान प्रतिष्ठा और समान आदर मिलना चाहिये। आज सब धर्मों के प्रति एक से अनादर की समानता पसद की जाती है, और उनके प्रति एक सी अनास्था अथवा एक से अज्ञान को भी समानता का एक मार्ग समझा जाता है। लेकिन यह मार्ग घातक है। आज के युग मे समाज मे रहने वाले प्रत्येक मनुष्य को मुख्य-मुख्य धर्मों का सामान्य ज्ञान होना चाहिये। परन्तु ऐसा ज्ञान लेने या देने मे केवल तार्किक, आलोचनात्मक अथवा ऐतिहासिक दृष्टि रखने से काम नही चल सकता। प्रेम, आदर और सहानुभूति के साथ जाग्रत जिज्ञासा बुद्धि से सब धर्मों का परिचय प्राप्त करना चाहिये। गाँवो का धर्म-ज्ञान बहुत पिछडा हुआ होता है, उनकी दृष्टि सकुचित होती है और उनका जीवन का हेतु बहुत उन्नत नही होता। आज के

जमाने मे दुनिया के विभिन्न धर्मों के सत्पुरुषों ने और चरित्र-परायण संघो ने जो प्रयत्न किये है, इनकी जानकारी [illegible] उन्हें बड़े प्रेम से देनी चाहिये। इसमे ध्येय धर्म-जागृति का और लोक-कल्याण का होना चाहिये, केवल पण्डिताऊ बहुश्रुतता का नही।

आज के समाज का एक महान दोष है वर्ग-विग्रह। लोगो को ईर्ष्या, द्वेष या मत्सर करने के लिए कोई ध्यानमूर्ति चाहिये। स्त्रियों को पुरुषो के खिलाफ, नौजवानों को बूढ़ों के खिलाफ, गरीबों को अमीरों के खिलाफ हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के खिलाफ और गोरे लोगों को काले और पीले लोगो के खिलाफ लड़ना है। इस प्रकार सर्वत्र विग्रह का—लड़ाई का वातावरण फैला हुआ है। कम या ज्यादा लोगों को संगठित करके उनका नेतृत्व ग्रहण करने की नीयत हो, तो इसके लिए उन सब की द्वेषबुद्धि को केन्द्रित करके उन्हें द्वेष के आलम्बन के लिये एक ध्यानमूर्ति देकर सजग का और परायेपन का वातावरण खड़ा करना बहुत आसान है।

यह रोग धर्म मे बड़ी जल्दी से घुस सकता है। आजकल इस दिशा मे प्रबल प्रयत्न भी चल रहे हैं। इन सब का परिणाम परस्पर हत्या और अंत मे आत्महत्या मे ही आयेगा। हम जिस धर्म-संस्करण का विचार करते है, उसमें इस रोग से मुक्त रहने की पूरी सावधानी रखनी चाहिये।

धर्म के बुरे तत्त्वों को दूर करते समय इतना ध्यान मे रखना चाहिये कि उनके स्थान पर शुभ, सात्त्विक और ठोस तत्त्वों का धर्म मे प्रवेश हो। केवल शून्यता, रिक्तता भयंकर सिद्ध होती है।

व्यवहार-कुशल लोग कहेंगे कि यह सारा विवेचन सुन्दर और उद्बोधक है, परन्तु इसमे योजना जैसा कुछ भी दिखाई नही देता।

विधान-सभा मे कोई कानून बनाते समय पहले उसके उद्देश्यो का व्यवस्थित निरूपण किया जाता है और उसके बाद ही उस कानून की धारायें आती हैं। परन्तु व्यवहार मे देखा जाता है कि कानून की धारायें हाथ मे आते ही उसका हेतु और उद्देश्य गौण बन जाता है और अन्त मे भुला दिया जाता है। समाज को ऐसी धाराबद्ध योजना की आदत पड गई है। परन्तु इससे जीवन यान्त्रिक बन जाता है। भावना का स्थान योजना कैसे ले सकती

है ? भावना का क्षेत्र शिक्षा से नव-पल्लवित होता है, जबकि योजना अन्त मे व्यवस्था का रूप ले लेती है। यहाँ मैंने जिस परिवर्तन की बात कही है, वह किसी सत्ता के बल पर नही हो सकेगा। वह शिक्षा के द्वारा और प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा लोगो का हृदय परिवर्तन कराने से ही हो सकेगा। इसके लिए कोई सार्वजिनक योजना तैयार करने की जरूरत नही है। यदि भावना मूल मे शुद्ध होगी और सुरक्षित तथा जीवत रहेगी तो हमारी आवश्यकता के अनुसार अनेक योजनायें उत्पन्न होगी और बदलती रहेगी।

१९३३

सुधारक धर्म में सुधार

आपका आमंत्रण स्वीकार करके मैं यहाँ आया, इसमें एक उद्देश्य यह था कि इस निमित्त से एकाध दिन परमानन्द भाई के साथ रहने का आनन्द मिलेगा। अभी-अभी उनके अहमदाबाद के भाषण के विरुद्ध एक बड़ा झगड़ा खड़ा हुआ है। मुझे बार-बार आश्चर्य होता है कि परमानन्द भाई के समान सौम्य और संतुलित व्यक्ति के भाषण में लोगों को ऐसा क्या मिल गया कि वे उन्हें मार्टिन ल्यूथर बनाने के लिए तैयार हो गये हैं! तीव्र विचार रखने वाले प्रत्येक मित्र को वस्तु का दूसरा पहलू बताकर उसे सौम्य और जिम्मेदार बनाना ही आज तक परमानन्द भाई का प्रिय कार्य रहा है। उनका पूरा भाषण पढ़े बिना ही मैं कह सकता हूँ कि उसमें उत्पात मचाने वाला अथवा विनाशक कोई तत्त्व नहीं है। उसका अर्थ इतना ही है कि क्रांतिकारी या सुधारक युग परमानन्द भाई के समान सौम्य मूर्ति के द्वारा भी अपनी आवाज प्रकट कर सकता है।

मैं सुनता हूँ कि अमुक समाज ने अथवा समुदाय ने उनका बहिष्कार कर दिया है। इसलिये मैं पहले इस बहिष्कार के बारे में ही दो शब्द कहूँगा।

बहिष्कार प्रत्येक सुसंस्कृत और सगठित समाज का स्वाभाविक अधिकार है। वह सभ्य समाज के हाथ में एक प्रभावशाली और सात्त्विक शस्त्र है। लेकिन यह शस्त्र दुधारी तलवार है। जिनके खिलाफ इसका उपयोग किया जाता है उन्हें तो जब यह मारेगा तब मारेगा, परन्तु जो लोग इस शस्त्र का उपयोग करते हैं वे यदि उचित अवसर, उचित पद्धति और स्वाभाविक मर्यादा को न जानें, तो यह पहले उन्हीं का नाश करता है। एक समय हमारी जाति के एक सयाने वृद्ध पुरुष ने बहिष्कार की जो मीमांसा की थी उसे इस समय मैं अपनी भाषा में आपको सुना दूँ। सत्याग्रहाश्रम में जाकर मैंने हरिजन के हाथ का खाना खाया था। इसलिये जब मैं अपने गाँव गया तो मैंने अपने जाति वालों से कहा कि मैं इस तरह व्यवहार करता हूँ। गुजरात के जैसी जातियों की रचना और जातियों द्वारा खड़ी की जाने वाली परेशानी हमारे प्रदेश में बिलकुल नहीं है। फिर भी जाति के लोग

चाहते तो मेरा बहिष्कार कर सकते थे। मैने हरिजनो के साथ भोजन करने की बात उनके सामने कबूल की, तो कुछ भाई बोल उठे "बैठो, बैठो। हम पूछने आये तब तुम ऐसी बातें हमसे कहना।" इसी रुख के समर्थन मे एक वृद्ध पुरुष ने कहा ' "कोई बडा अमीर आदमी होता है तब तो उसका बहिष्कार करने की हम बात भी नही करते। दभी आदमी समाज मे पाखड चलाते है, लेकिन हम उन्हे अपने शिकजे मे पकड नही सकते। तब यदि एकाध मन के शुद्ध और सज्जन आदमी का ही हम बहिष्कार करे तो क्या यह हमे शोभा देगा ? ऐसा करने से समाज का कल्याण भी नही होगा। इनके जैसे लोग रूढ आचार को जरूर तोडते है, परन्तु वे अनाचार नही करते। इसलिये जाति उनके खिलाफ हो जाय, तो भी उनकी प्रतिष्ठा को कोई धक्का नहीं पहुँचता। उल्टे बहिष्कार करने वाले लोगो की ही बदनामी होती है। यदि निर्मल और शुद्ध-हृदय लोगो का बहिष्कार करके हम उन्हे खो देगे, तो फिर जाति मे रह ही क्या जायगा ? इसलिये समझदारी का मार्ग यही है कि ऐसे लोगो का हम नाम ही न ले। यह कलियुग है, इसमे जो कुछ हो उसे हम चुपचाप देखते रहे।" इन वृद्ध पुरुष की मुख्य दृष्टि सच्ची थी, यद्यपि कलि-युग की उनकी दलील निरर्थक थी।

यह जरूरी है कि समाज के आचारो की (रहन-सहन की) प्रत्येक युग मे जाँच की जाय। उनमे आवश्यक परिवर्तन होना भी जरूरी है। शरीर को हम रोज नया पोषण देते है और गदगी भी रोज शरीर से बाहर निकालते रहते है, जिससे शरीर निरोग रहकर अच्छी तरह अपना काम करता है। यही बात समाज-शरीर पर भी लागू होती है। जिस प्रकार खाये हुए आहार का कुछ समय बाद रक्त बनता है और उसका निकम्मा भाग गदगी के रूप मे शरीर से बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार अच्छी से अच्छी प्राचीन व्यवस्था अपने-अपने समय को पोषण देने के बाद सडाध के रूप मे बची रहती है। उसे यदि हम समाज से निकाल न फेके, तो समाज-शरीर बदबू करता है और रोगी हो जाता है। प्रतिदिन होने वाले विकास को जब हम रोक देते है, तो किसी समय सन्निपात की तरह समाज मे एका-एक क्राति फूट पडती है। विकास को रोकने का अर्थ है क्राति को निमत्रण देना, फिर यह क्राति विदेशी आक्रमण के रूप मे हो या भीतरी विद्रोह के रूप मे।

सामयिक सुधारो के बिना धार्मिक जीवन टिक नहीं सकता, इसलिये सामाजिक सुधार—सामाजिक प्रगति—के सार्वभौम नियमो को हम जान

लेना चाहिये। जिन लोगो के पास हजारो वर्षों का अनुभव और इतिहास है, वे यदि धर्म-विकास और जीवन-परिवर्तन का शास्त्र न रचे, तो वे ऋषि-मुनियो की परम्परा को कलकित कर देगे। हमारे स्मृतिकार समय-समय पर धर्म-व्यवस्था मे परिवर्तन करते ही आये है। अब हमे ऐसे परिवर्तनो का एक सम्पूर्ण शास्त्र बनाना चाहिये। तभी हम अपने समाज का जहाज जीवन-सागर मे सुरक्षित रूप मे चला सकेगे। इस प्रकार जीवन-व्यवस्था की बार-बार परीक्षा करके जीवन के तत्त्वज्ञान को नये सिर से रचने वाले लोगो मे भगवान् महावीर एक अग्रगण्य महापुरुष थे। अब हम देखे कि उनका युग कैसा था ?

महाभारत के युद्ध की घटना आर्यों के जीवन मे बडी से बडी क्राति करने वाली सिद्ध हुई। अग्रेजो और जर्मनो के बीच के भ्रातृद्वेष का विग्रह जिस प्रकार विश्वव्यापी बनकर आज की दुनिया को अभी भी परेशान कर रहा है, उसी तरह कौरव-पाडवो के बीच का वह सर्वनाशी महायुद्ध भारत की प्राचीन सस्कृति के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस भारतीय युद्ध के पहले रतिदेव जैसे सम्राट् इस प्रकार के महायज्ञ करने मे जीवन की सार्थकता मानते थे, जिनमे प्रतिदिन पच्चीस-पच्चीस हजार पशुओ का वध होता था। उस समय के राजा लोग सम्राट् बनने के लिए प्रतिस्पर्धा करके एक-दूसरे का नाश करते थे और एक दिग्विजय सिद्ध करने के लिए किये गये राज-सहार का पाप धोने के लिए उतना ही हिंसक दूसरा यज्ञ करते थे। इसी कारण से भीष्माचार्य तथा धर्मराज के समान पुण्य-पुरुषो ने क्षात्र धर्म को पापपूर्ण मानकर उसे धिक्कारना चाहा। मनुष्य की अखण्ड सेवा के कारण उसके कुटुम्बी बने हुए असख्य पशुओं का—गाय, बैल और घोडो का—यज्ञ के नाम पर सहार करने की सिफारिश करने वाले वेदो से सत्रस्त होकर एक ऋषि यह विद्रोही वचन बोल उठे 'धिग्वेदा' वैदिक सस्कृति के सुवर्ण-काल मे ऐसा वचन कहना उतना ही साहसपूर्ण था जितना बरलिन का युद्ध लड रहे हिंडनबर्ग के समक्ष युद्ध का निषेध करना। हमारे वैदिक धर्म के अभि-मानी पूर्वजो ने यह वचन भी लिख रखा है। यह बात उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता को सूचित करती है, साथ ही यह उस काल की ऊची हुई धर्म-बुद्धि की भी द्योतक है।

भारतीय युद्ध, काठियावाड की भूमि पर परस्पर लडा गया यादवो का सहारक युद्ध तथा आस्तिक ऋषि द्वारा बद कराया हुआ राजा जनमेजय

का सर्पसत्र—इस सारे वातावरण का जिन लोगो को स्मरण था, उन्होने सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि मे परिवर्तन करने का निश्चय किया।

यह विचार धीरे-धीरे परिपक्व और दृढ होता गया, छह सौ वर्ष तक यह प्रक्रिया चलती रही और उसमे से आर्य-परम्परा के दो पन्थो का जन्म हुआ। इन पथो को हम बौद्ध धर्म और जैन धर्म के नाम से पहचानते है।

नहि वेरेण वेराणि सम्मन्तीध कुदाचन।
अवेरेण च सम्मति एस धम्मो सनन्तनो॥

इस प्रकार कहकर बुद्ध भगवान् ने अवैर का सन्देश दिया। 'दुख सेते पराजितो'— प्रजा का यह अनुभव होने से उसने इस सन्देश को अपना लिया। बुद्ध भगवान् ने मासाहार का निषेध भले ही न किया हो, किन्तु यह उन्होने स्पष्ट कहा है कि जब मानव-जाति यज्ञ के नाम पर पशुहत्या नही करती थी उस समय मनुष्यो मे रोग नही-जैसे ही थे। पशुहत्या के फलस्वरूप ही मानव-जाति को अनेक रोग लग गये है।

और, ज्ञातृपुत्र वर्धमान महावीर ने तो अहिंसा को ही परम धर्म कहकर मानव-जीवन के सम्पूर्ण आधार को ही बदल डाला। वैदिक काल मे अवैर, अहिंसा और गोरक्षा की कल्पना थी ही नही ऐसा नही; परन्तु धर्म का पूर्ण साक्षात्कार भी तो अनुभव से ही होता है। बुद्ध और महावीर के समय मे ही ऋषि-दृष्ट अहिंसा का प्रेम-धर्म लोक-दृष्ट हुआ। यह तो नही कहा जा सकता कि उनके समय के बाद भारत मे यज्ञ हुए ही नही, परन्तु राष्ट्र-धर्म के हृदय मे यज्ञ अप्रतिष्ठित बन चुके थे। वे प्राचीन सस्कृति की गूँज की तरह सुने गये और अनादर के मौन मे विलीन हो गये। जहाँ-तहाँ जन-हृदय पूछने लगा कि वृक्षो का सहार करने से, पशुओ की हत्या करने से और रक्त-मास का कीचड फैलाने से यदि स्वर्ग मे जाया जाता हो, तो फिर नरक मे जाने का मार्ग कौनसा है?

जब अनुकूल और प्रतिकूल तटो पर बसने वाले किसानो मे बीच की नदी के पानी के लिए युद्ध होने का अवसर खडा हो गया, तब बुद्ध भगवान् ने दोनो के नेताओ को इकट्ठा करके पूछा 'पानी कीमती हे या भाइयो का खून?' 'पानी के लिए भाइयो का खून बहाना कहाँ की बुद्धिमानी हे?'

राजा ययाति ने अपने और अपने पुत्र के यौवन का अनुभव करके सम्राट् के लिए सुलभ सारे भोग भोग लेने के बाद यह अनुभव-वचन कहा कि जगत में जितने भी चाँवल और तिल हे, जितने भी ऐश-आराम के साधन हैं, उन सब को कोई अपना बना ले, तो भी एक के सुखोपभोग के लिए वे पर्याप्त नही होंगे, वे उसके मन मे तृप्ति उत्पन्न नही कर सकते। इसलिये स्वय वासना का ही त्याग करके सतोष मानने मे जीवन की सफलता की कुञ्जी है। भगवान् महावीर ने भी लोगो से यही कहा। हिंसा के द्वारा दूसरो को दबाने की अपेक्षा तप के द्वारा अपनी वासनाओ को दबाना ही विश्वजित् यज्ञ है। इसी मे जीवन की सफलता और कृतार्थता हे। मनुष्य का जीवन अपने आस-पास के लोगो के लिए शाप रूप और त्रास रूप बनने के बदले आशीर्वाद बने, इसी मे धर्म निहित है। तप के मूल मे यही बात है। तप के बिना मनुष्य का जीवन निष्पाप नही बन सकता।

जिस प्रकार यज्ञ के जैसे भव्य जीवन-सिद्धान्त को उस समय के लोगो ने पशुहत्या कर के भ्रष्ट कर दिया, उसी प्रकार उसके बाद के लोगो ने तप के सर्वमगलत्व को भूलकर उसे निरर्थक देह-दमन का रूप दे दिया। सच-मुच हमारे देश के लोगों ने महान् से महान् धर्म-सिद्धान्तो को अर्थ-विहीन यान्त्रिक क्रिया का रूप देकर बहुत बडा बुद्धि-द्रोह और समाज-द्रोह किया हे।

आहार-शास्त्र, जीवन-शास्त्र, प्राणी-शास्त्र, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, मानस-शास्त्र, तर्क-शास्त्र आदि मनुष्योपयोगी शास्त्रो का जिन्होने उत्तम और अद्यावधि (Up-to-date) अध्ययन किया है, उन समाज-हितैषी लोगो को धर्मशास्त्रो पर बार-बार विचार करना चाहिये और अपने जमाने के स्वजनो का मार्गदर्शन करना चाहिये।

यदि यह सनातन आवश्यकता न होती तो भगवान् बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषो को पुरुषार्थ करके जनता को सनातन धर्म की नये सिरे से दीक्षा देना आवश्यक नही लगता। धर्म कितना भी उज्ज्वल क्यो न हो, मानवीय बुद्धि अथवा अबुद्धि की जडता के कारण उस पर राख चढ ही जाती है। इस राख को हटाकर तथा प्राचीन धर्म-तत्त्वो का सस्कार कर के धर्म को नये सिरे से गति देने का कार्य प्रत्येक युग मे होता आया है इसीलिये धर्म टिका हे। धर्म के ग्रन्थ, धर्म के मन्दिर तथा अहिंसा, सत्य और शान्ति

सब को भूलकर धर्म का ही द्रोह करने वाले धर्मान्ध आचार्य धर्म की रक्षा नही कर पायेगे। शान्ति, तितिक्षा और उदारता जिनमे है, विरोधी पक्ष के तर्क मे रहे सत्याश और शुभ हेतु को समझने और स्वीकारने जितना स्याद्वाद जिन के गले उतर गया है, ऐसे धर्म-परायण लोग ही धर्म के रक्षक होते है। उच्च धर्म मे जन्म पाने से मनुष्य उच्च नही होता, परन्तु उच्च जीवन से ही वह उच्च बनता है, यह बुद्ध और महावीर ने अनेक बार कहा है।

धर्म का अर्थ ही है जीवन-सुधार। प्राकृत मनुष्य का जीवन सामान्यत आहार-निद्रादि आवश्यकताओ के, राग-द्वेषादि वासनाओ के तथा दम्भ-मत्सरादि विकृतियो के अनुसार ही वहता रहता है। इसमे सुधार कर के जीवन को सु-सस्कृत बनाना ही धर्म का मुख्य कार्य है। जिस प्रकार जीवन पर जग चढता है उसी प्रकार धर्म-वचनो और धार्मिक सस्थाओ पर भी जग चढता है। इस जग को दूर करने का कार्य यदि धर्म स्वय न करे तो दूसरा कौन करेगा? सामाजिक सुधार ही धर्म का प्रयोजन है। यदि कोई यह कहे कि बुद्ध और महावीर के बाद समाज-सुधारको की आवश्यकता नही रही, तो इससे यही सिद्ध होगा कि बुद्ध और महावीर की भी उनके जमाने मे कोई आवश्यकता नही थी। प्रत्येक धर्म-सस्थापक पर यही न्याय लागू होता है, भले ग्रन्थ-वचन कुछ भी कहे। 'ऐसा एक भी देश नही है और ऐसा एक भी युग नही है, जिसे समाज सुधार करने के लिए धर्म-सस्थापक प्राप्त न हुए हो।' इसलिये हमे धर्म से ही समाज-सुधार के सिद्धान्त मिल सकते है। और इन सिद्धान्तो का उपयोग सर्वप्रथम हमे प्रगति सिद्ध करने, धर्म सस्था को सुधारने के लिए ही करना चाहिये।

प्रगति का अर्थ क्या है? यह प्रश्न हमेशा उठता है जहाँ जीवन के आदर्श बार-बार बदलते है वहाँ प्रगति की दिशा निश्चित करना आसान नही होता। सामान्यत यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक समय के लोगो को तात्कालिक जो कुछ वाछनीय मालूम हो उसकी ओर जाने के लिए आवश्यक परिवर्तन करना प्रगति है। लोगो को जो दिशा पसद होगी उसी दिशा मे वे जायेगे। एक समय हमारे लोगो ने सगीत और नृत्य की निन्दा की थी। उन्होने इन दोनो कलाओ को सामाजिक बुराई मान लिया था। उस समय के कुछ लोगो ने इन कलाओ के खिलाफ जोरो का आन्दोलन कियाथा।

आज उसी सगीत और नृत्य को अपनी सस्कृति की विशेषताओ के रूप मे हम सीखते है और उनका विकास करते है तथा दुनिया को उनकी कद्र करने के लिये निमन्त्रित करते है। एक जमाने मे अपने वालको को खेलकूद मे समय विगाडने के लिये हम सजा देते थे, आज खेदकूद मे जो विद्यार्थी भाग नही लेते उनसे हम नाराज होते हे। हमारी पोशाक के बारे मे भी यही बात लागू होती है। हमारे देश मे एक ऐसा जमाना भी हो गया है, जो मास और मदिरा के सेवन मे ही प्रगति मानता था। आदर्श सदा झूले की तरह दो सिरो के बीच झूलते रहते हैं। फिर भी प्रगति जैसी कोई स्थाई चीज अवश्य है, और सभी जमानो को वाछनीय लगे ऐसे कुछ तत्त्वो का भी विकास होना चाहिये। इसका विचार हम आगे करेगे।

सामान्यत यह देखा गया है कि समाज को स्थिरता और प्रगति दोनो तत्त्वो की रक्षा करनी होती हे। यदि स्थिरता न हो तो सामाजिक सद्‌गुणो की पूँजी एकत्र नही हो सकती, चरित्र का विकास नही हो सकता और मनुष्य का सामाजिक जीवन मे विश्वास भी नही वैठ सकता। उलटे यदि हम अपरिवर्तनवादी वन जाये, तो जीवन को जग लग जायेगा, जीवन सड जायेगा और सारे जीवन-रस सूख जायेगे। स्थिरता और प्रगति ये एक साथ रहने वाले तत्त्व कभी-कभी श्रम और विश्वास की तरह एक के बाद एक आते है। यह भी प्रगति का एक वडा सिद्धान्त है। इन दोनो की अपरिहार्यता को ध्यान मे रखकर ही सामाजिक जीवन के नियम वनाये जाने चाहिये। धर्मशास्त्रो ने समय-समय पर सामाजिक नियमो की रचना की है। हमारे समाज की मान्यता ऐसी वना दी गई है कि नियम ईश्वर के दिये हुये है अथवा सामान्य बुद्धि से परे रहने वाले अलौकिक दृष्टि के लोग ही नियम वना सकते है। प्रत्यक्ष व्यवहार मे तो सभी लोग इस विचार को ही प्रोत्साहन देते हैं कि धर्म की दी हुई समाज व्यवस्था मे कोई परिवर्तन करने का अधिकार समाज को नही है। समाज-व्यवस्था प्रत्यक्ष अनुभव, उस अनुभव के आधार पर होने वाला विचार, समाज की भावनाये और समाज मे विकसित होने वाली सनातन श्रद्धा—इन्ही सव पर आधार रखती है। इनमे से श्रद्धा प्रत्येक समाज का मूलधन है। इस धन की रक्षा करना सामाजिक शक्ति का मूल-मत्र है।

यदि हम प्रतिक्षण परिवर्तन करते रहेगे तो, समाज वालू के ढेर जैसा हो जायेगा। उसमे धृति (Cohesion) का गुण आयेगा ही नही। और यदि

हम किसी भी तरह का परिवर्तन न करने का निश्चय कर ले, तव तो समाज मुर्दे की तरह सडने लगेगा।

समाज मे आवश्यक परिवर्तन करने पर भी कोई परिवर्तन नही किये गये है ऐसा मानने-मनवाने मे प्रत्येक समाज अपना श्रेय समझता आया है। न्यायाधीश प्रत्येक मुकदमे मे अपना निर्णय देते समय कानून मे परिवर्तन करते है, परन्तु उनका प्रयत्न यह दिखाने का होता है कि कानून मे कोई परिवर्तन नही किया गया है। इसे Legal fiction कहते है। समाज-व्यवस्था को धर्म शास्त्रो के हाथो मे सौपने के बाद उसमे कोई परिवर्तन नही किया गया, ऐसा दिखाना पडता है। इसके लिए भाष्यकार भाष्य रचते है और एक ही शास्त्र मे श्रद्धा रखते हुए भी अलग-अलग भाष्यकारो के अर्थ के अनुसार लोगो के गुट बन जाते है। लोग शास्त्र-वचन के प्रामाण्य की रक्षा करके अपने स्वीकृत भाष्यकार के वचन को अधिक महत्त्व देते है। सब देशो के आज तक के इतिहास को देखते हुए प्रगति का यह भी एक सार्वभौम नियम कहा जा सकता है।

सामाजिक प्रगति का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भी सर्वत्र देखा गया है। एक जमाना धर्म-व्यवस्था के बाह्य आकार की रक्षा करके उस आकार मे पूरे या भरे जाने वाले मसाले मे परिवर्तन करता हे। पशु के मास का यज्ञ करने के वदले वह माप का (उडद का) पशु बनाकर उसकी वलि देता है और मानता है कि मास-यज्ञ की रक्षा हो गई। इस प्रकार भीतर का मसाला पूरी तरह बदल जाने के बाद नये लोग तर्क करते है कि मुख्य चीज मसाला है, आकार तो गौण चीज है। इसलिये भीतर की चीज की रक्षा करके उसे कैसा भी आकार देने मे धर्मद्रोह नही होता, तत्त्व की रक्षा का ही वास्तविक महत्त्व है। इस प्रकार आकार के वदल जाने के वाद नये आकार को ही महत्त्व प्रदान किया जाता है। उडद के आटे के पशु वनाने के वदले गेहूँ के आटे के पिण्ड बनाये जाते हे और फिर उसमे नया मसाला स्वीकार करने की तैयारी हो जाती है। एक प्राचीन वचन है 'चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन पण्डित' एक पैर को उठाकर आगे रखने के लिए दूसरा पैर अडिग और स्थिर रखना होता है। उठाया हुआ पैर आगे स्थिर हो जाय उसके वाद पीछे से अडिग पैर के टिकने की या उसे टिकाने की वारी आती है। इसी तरह समाज की प्रगति होती आई हे। जो लोग इन सिद्धान्तो को जान लेते है, उनकी समाज सेवा करने की शक्ति खूब वढ जाती है।

आज का जमाना चर्चा का है। प्राचीन नियम यह था जिस बात के लिए मन मे परम आदर हो, उसकी चर्चा नही की जा सकती। माता, पिता या गुरु की आज्ञा पर कोई विचार किया ही नही जा सकता था—'आज्ञा गुरुणा ह्यविचारणीया।' गुरुजनो के आचरण के काजी हम न बनें, वे जो कुछ करते हैं यह उत्तम ही है 'वृद्धास्ते न विचारणीयचरिता' इस वृत्ति का भी खूब विकास हुआ था। आज एक भी वस्तु इतनी पवित्र नही रही, जिसकी चर्चा ही न की जा सके। सभी लोग सभी वस्तुओ की चर्चा करें, इसमे एक प्रकार की शिक्षा भी है और अनधिकार चेष्टा भी है। इसमे समाज का नेतृत्व क्षुद्र-वृत्तियो को उत्तेजित करने वाले गैर-जिम्मेदार लोगो के हाथ मे आसानी से चला जाता है। परन्तु इस दोष से बचने के लिए यदि यह नियम बना दिया जाय कि 'अधिकारी पुरुष ही चर्चा करने योग्य माने जाने चाहिये,' तो इसके भी अपने अलग गुण-दोष है ही। ऐसा करने से समाज-हित का विचार एक तरह से परिपक्व रूप मे होता है, लोगो मे बुद्धि भेद उत्पन्न नही होता, स्थिरता बनी रहती है और समाज प्रचण्ड सामर्थ्य का विकास कर सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति मे लोक-शिक्षण बहुत बार रुक जाता है और नेताओ की ही एक जाति खडी हो जाती है। समाज की कार्य-शक्ति बढने पर भी उसकी सूझ-बूझ की शक्ति को जग लग जाता है और नेता वर्ग का नैतिक अध पतन होने पर सारा समाज टूट जाता है।

धार्मिक सुधार करने वाले लोग परम धार्मिक और त्रिकालज्ञ होने चाहिये। जो लोग धर्म के विधि-विधान मे और बाह्य प्रथाओ मे क्रांति कर सकते है, उनके पास धर्म की आत्मा अखण्ड जागृत होनी चाहिये। उन्हे धर्म तत्त्व का आकलन स्वय करना चाहिये। ऐसे लोग हर समाज मे और हर देश मे अथवा समाज मे उत्पन्न होते ही है, यह धर्म-ग्रन्थो मे लिखा हुआ है और इतिहास मे देखा गया है।

त्रिकालज्ञ शब्द का अर्थ हमे भली-भांति समझ लेना चाहिये। 'लाखो वर्ष पहले कौन-कौन सी घटनायें घटी है और लाखो वर्ष बाद कौन-कौन सी घटनाये घटने वाली है, प्रत्येक व्यक्ति क्या-क्या कर चुका है और आगे क्या करने वाला है, यह सब विस्तार मे जानने वाला मनुष्य त्रिकालज्ञ है,—ऐसी जड मान्यता समाज मे फैली हुई है। ईश्वर की ओर से सदेश प्राप्त करने का दावा करने वाले मुहम्मदपैगम्बर कहते हैं कि दूसरे क्षण क्या होने वाला है

यह न तो खुदा ने अपने नवियो से कह रखा है और न अपने फरिश्तो से। भविष्य-सम्वन्धी ज्ञान खुदा ने अपने पास ही रखा है। कहने का मतलव यह है कि सर्वोच्च मनुष्य को भविष्य का व्यौरेवार ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। तव त्रिकालज्ञ का अर्थ क्या है ?

जो मनुष्य दीर्घकालीन इतिहास के अध्ययन से भूतकाल के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है और लोक-स्थिति का सूक्ष्म और व्यापक निरीक्षण करने के फलस्वरूप वर्तमान काल की वस्तु-स्थिति से पूर्ण परिचित होता है, उसे यदि उसने शास्त्रीय-वृत्ति का विकास अपने भीतर किया हो तो—समाज शास्त्र की रचना करना आता है और इस शास्त्र के बल पर वह आसानी से यह समझ सकता है कि भविष्य का प्रवाह—विचार प्रवाह तथा घटना प्रवाह—किस दिशा मे वहेगा। ऐसे शास्त्रीय दृष्टि वाले मनुष्य को हम त्रिकालज्ञ कहते है। प्रत्येक देश के और प्रत्येक युग के सर्वोच्च नेता इस प्रकार कम या अधिक मात्रा मे त्रिकालज्ञ होते ही है। और जो लोग इस अर्थ मे त्रिकालज्ञ रहे है, वे ही समाज की नौका को जीवन-सागर मे भली-भाँति चला सके है।

ऐसे मनुष्य मे एक विशिष्ट शक्ति की आवश्यकता होती है। वह है भविष्य के आदर्श की झाँकी करने की शक्ति। जिस प्रकार जहाज का कप्तान अपने पास के नक्शे के अनुसार जहाज को चलाता है, जिस प्रकार मकान वनाने वाले लोग अपने नक्शे के अनुसार मकान की सारी रचना करते है, जिस प्रकार महाकाव्य का कोई कवि निश्चित किये हुए उद्देश्य के अनुसार अपने काव्य का विस्तार करता है, उसी प्रकार समाज की धुरा को धारण करने वाला, समाज का नेता अपने मन मे निश्चित किये हुए आदर्श की दिशा मे समाज को नि शक भाव से ले जाता है। उसके सामने अपने आदर्श का चित्र जितना स्पष्ट और जीवत होगा, उतने ही विश्वास के साथ वह समाज का मार्गदर्शन करेगा। बुद्ध और महावीर ऐसे ही समाज-सुधारक थे, इसीलिये वे अपने पीछे इतनी समर्थ सस्कृति छोड गये हैं।

लेकिन वाद के लोग धर्म के रहस्य को भूलकर केवल रूढि और अपनी प्रतिष्ठा मे चिपटे रहते है। अहिंसा-धर्म की सर्वत्र विजय देखने की इच्छा रखने वाले जैनो मे जब धर्म के नाम पर मार-पीट होती है तब धर्म कलकित होता है। शम-दम का उपदेश करने वाले आचार्य जब क्रोधित होते है और किसी का सर्वनाश करने की प्रतिज्ञा लेते है, तब जिस धर्म के

नाम पर उनको प्रतिष्ठा मिली है वह धर्म गहरे सोच मे पड जाता है कि 'अब मैं कहाँ जाऊँ ? जिनके आधार को मैंने मुख्य माना था वे मेरे रक्षक होने का दावा तो करते है, परन्तु अपने जीवन से ही मेरा गला घोटते है।' महाराष्ट्र मे नागपुर के पास रामटेक नामक एक स्थान है। वहाँ का एक जैन-मन्दिर देखने मै गया था। उसके द्वार पर बन्दूक, तलवार आदि शस्त्र रखे गये थे और सिपाही उस मन्दिर की रक्षा करते थे। इस तरह मन्दिर मे एकत्र की हुई धन-दौलत की रक्षा जरूर होती थी, लेकिन अहिंसा-धर्म की तो निरन्तर विडबना ही होती थी।

धन-दौलत के भडार और अहिंसा का मेल कभी बैठ ही नही सकता। यूरोप मे अहिंसावादी क्वेकरो को और भारत मे अहिंसावादी जैन लोगो को काफी धनी देखकर मेरे मन मे शका होती है कि इन लोगो की समझ मे अहिंसा-धर्म अच्छी तरह आता होगा या नही ? गरीबो का वृत्तिच्छेद किये बिना कोई धनवान हो ही नही सकता और वृत्तिच्छेद मे शिरच्छेद से कम हिंसा नही है। यदि धर्माचार्य धर्म की विजय देखना चाहते हो, तो उन्हे समाज की अन्याय मूलक व्यवस्था को बदलना ही होगा और ऐसी स्थिति लाने का प्रयत्न करना होगा जिसमे प्रत्येक मनुष्य को उसकी मेहनत का पूरा फल मिले।

यह अच्छा ही हुआ कि प्राचीन काल मे आहारशास्त्र के सूक्ष्म नियम बनाये गये। परन्तु आज वे नियम बदलने ही चाहिये। नया आहारशास्त्र बडी तेजी से विकास कर रहा है। धर्म की दृष्टि से उसका लाभ उठाकर धर्माचार्यों को चाहिये कि वे अपने समाज को नया रास्ता दिखाये। मेरी समझ मे यह बात नही आती कि प्याज, आलू, बैगन या टमाटर न खाने मे धर्म मानने वाले लोग कीडो को उबाल कर तैयार किये हुए रेशम के कपडो का घर मे और उपाश्रय मे कैसे उपयोग करते होगे। लेकिन यह तो तुलना मे एक गौण बात हुई। आज स्त्रियो, हरिजनो, गरीबो, किसाना और मज-दूरो के प्रति जो जीवन-व्यापी अन्याय चल रहा है, उसे रोकने के लिए धर्मवीरो को कटिबद्ध होना चाहिये।

जैन का अर्थ है वीर। उसे तो सदा लडने की तैयारी रखनी ही चाहिये। उसका शस्त्र अहिंसा है, लेकिन इस कारण कम वीरता से उसका काम नही चल सकता। जिस धर्म की स्थापना एक महान् सुधारक ने की

उसके अनुयायी स्वयं ही सुधार का विरोध करें, यह एक आश्चर्यजनक घटना है। बुद्ध और महावीर ने जाति-भेद का विरोध किया था, अस्पृश्यता की अवगणना की थी, फिर भी उनके अनुयायी जाति के अभिमान से ओतप्रोत है और अस्पृश्यता को टिकाये रखने मे धर्म समझते है।

यह स्थिति देखकर ही एक मित्र ने कहा है : 'सत लोग धर्म चलाते है और रूढि-पूजक आचार्य उस धर्म का खून करते है और बाद मे उसकी 'ममी' (सुरक्षित शव) की पूजा करते है।' मैं नहीं मानता कि ऐसा होना ही चाहिये। इसलिये मेरी यह आशा है कि धर्माचार्य अपनी प्रतिष्ठा को नहीं परन्तु धर्म को जीवत रखने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देंगे।

सवत् १९९२—सन् १९३५

धर्म संस्करण का समाजशास्त्र

हम भूतपरस्त बनें या भविष्य के सर्जक ?

•

नया आध्यात्मिक समाजशास्त्र

•

परम्परा किसे कहें ?

हम भूतपरस्त बनें या भविष्य के सर्जक ?

भारत मे प्रचलित लोककथाओ मे भूत-प्रेत आदि दुर्दैवी योनियो का वर्णन आता है। उसमे बताया जाता है कि भूतो के पांव उलटे होते है और उनकी आंखे भी मनुष्य के जैसी मुख के आगे रहने के बदले पीछे रहती है।

बचपन मे ऐसे वर्णन पढते घबराहट होती थी। आज उसका अर्थ स्पष्ट होता है। जो लोग भूतकाल की खोज करते हैं, भूतकाल के आदर्श की ओर जाते है और आदर्श सामाजिक जीवन भूतकाल मे ही था ऐसी मान्यता रखते है उनकी आंखे सिर के पीछे ही होनी चाहिये और उनके कदम आगे न बढते हुये पीछे-पीछे भूतकाल की ओर ही प्रयाण करते हुंगे।

हम मानते है कि सब से अच्छा युग भूतकाल मे ही था। उसका ह्रास होते-होते आज कलियुग आया है। आदर्श धर्म वेदकाल मे ही पाया जाता था। त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनि प्राचीन-काल मे ही थे। प्राचीन-काल का जीवन शुद्ध पवित्र था। प्राचीन-काल के लोग नीरोगी थे, बलवान थे, सामाजिक उत्कर्ष के सब नियम जानते थे और उनका पालन करते थे। उनकी शरीर-यष्टि ऊँची रहती थी, वे दीर्घायु थे। दिन-पर-दिन वह सारा आदर्श जीवन बिगडता गया। अब लोगो की ऊँचाई भी कम होने लगी है। आगे जाकर लोग और भी वामन बनेंगे, अल्पायुषी बनेंगे। भूतकाल ही स्वर्णयुग था।

ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक अनुसधान और उत्खनन द्वारा हजारो वर्षों का जो इतिहास मिलता है उस पर से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल के मनुष्य आज के जितने ऊँचे नही थे। प्राचीन-काल मे मृत व्यक्तियो के शरीर सुरक्षित ढग से जमीन मे गाडने के लिये बडे-बडे पत्थरो मे शरीर की आकृति जितना हिस्सा खोदकर उसमे शव को रखते थे और उस पर दूसरी शिला का ढक्कन रख कर पत्थर की वह शव-सदूक जमीन मे गाड देते थे। ऐसी जो प्राचीम संदूके मिली है, उन से पता चलता है कि हमारे पूर्वजो की शरीर-यष्टि कितनी ऊँची थी। ईजिप्ट की मम्मी पर से भी पता चलता है कि प्राचीनकाल के लोगो की ऊँचाई आज से अधिक नही थी।

जो हो, भूतकाल की भक्ति करने वाले लोगो के लिये भविष्यकाल मे कोई आशास्पद स्थिति है नही।

ऐसे लोगो की विचार-पद्धति मे धर्मों का आदर्श स्वरूप भूतकाल मे ही था। याज्ञवल्क्य, जनक, अष्टावक्र, गौडपाद, शकर, रामानुज, मध्व, बुद्ध, महावीर आदि लोगो मे मानवता का पूर्ण विकास हुआ था। उनके आगे अब कोई जा नही सकता। वे सर्वज्ञ थे, हम अल्पज्ञ है। वे पूर्ण पुरुष थे। अब वह पूर्णता फिर से आने वाली नही। इसलिये हमे मान ही लेना चाहिये कि जो कुछ भी श्रेष्ठता कल्पना मे आ सकती है वह इन आद्य धर्मसस्थापको मे थी ही। अगर इतिहास कुछ दूसरी बात कहता है तो इतिहास गलत है अथवा उसका अर्थ दूसरे ढग से करना चाहिये।

अगर कोई कहे कि आजकल के कोई युगपुरुष प्राचीनकाल के अवतारी पुरुषो से भी श्रेष्ठ थे अथवा है, तो उनके लिये ऐसी बात सुननी भी असह्य होगी। धार्मिको की बात दरकिनार, अगर मैंने कहा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर महाकवि कालिदास से कई दर्जे श्रेष्ठ और प्रतिभाशाली थे तो हमारे लोगो को अच्छा नही लगेगा।

हम लोगो ने एक और भी तरीका चलाया है। प्राचीनकाल के श्रेष्ठ पुरुषो को हम ईश्वर का अवतार बनाते है और ईश्वर की सम्पूर्णता का उन पर आरोप भी करते है। फिर तो ऐतिहासिक तथ्यो के लिये कोई जगह ही नही रही। राम, कृष्ण, शकर, बुद्ध, महावीर, रामकृष्ण परमहस सब के सब परमात्मा के अवतार ही थे। उनमे कुछ अपूर्णता थी ही नही। अपूर्णता का अवकाश ही उनमे कहाँ से हो सके ?

जो बात धर्मसस्थापको की और अवतारी पुरुषो की, वही बात धर्मग्रन्थो की। उन ग्रन्थो मे सम्पूर्ण ज्ञान और पूर्ण विकसित ज्ञान पाया जा सकता है। उन मे गलती होने की सभावना ही नही है। धर्म का पूर्ण विकसित रूप इन ग्रन्थो द्वारा प्रकट हो सके ऐसा ही उनका अर्थ करना चाहिये।

जिन लोगो ने ऐसी मनोभूमिका धारण की उनके लिये भविष्यकाल कुछ मानी ही नही रखता।

अहिंसा धर्म लीजिये। अगर शुद्ध दृष्टि से प्राचीन इतिहास और प्राचीन धर्मग्रन्थो का अध्ययन हम करे तो हमे पता चलता है कि अहिंसा धर्म का आकलन कही स्थूल था, कही सूक्ष्म था। उसके पालन मे पहले क्षति ज्यादा होती थी। सामान्य जनता तो प्रमादी ही रहती है। हर एक जमाने के श्रेष्ठ

पुरुषो के जीवन की तुलना की जाय तो अहिंसा के बारे मे भगवान् पार्श्वनाथ से भगवान् महावीर आगे बढे हुये थे। याज्ञवल्क्य की अपेक्षा सभव हे, गौडपाद और शकर ऊँची भूमिका पर पहुँच गये थे। टॉलस्टॉय को अहिंसा का जो दर्शन हुआ था, उससे महात्मा गांधी को अनेक गुना ज्यादा स्पष्ट और ज्यादा उज्ज्वल दर्शन हुआ था। लेकिन भूतकाल के उपासक और विभूतिपूजक लोग ऐसी बाते आसानी से मानने को तैयार नही होते। वैदिक काल के धर्म-ग्रन्थो मे वेदांग ज्योतिष भी हे। उसके गणित मे आज हम गलतियाँ देखते हैं क्योकि वह स्थूल गणित था। धर्मग्रन्थ दोषरहित, निर्भ्रान्त होते है ऐसा मानने वाले लोगो के लिये वेदाँग ज्योतिष की पहेली सोचने लायक है।

हमने जैन धर्म के एक भक्त को पूछा, 'जैन धर्म की अहिंसा मे उत्तरोत्तर विकास के लिए कुछ अवकाश है या नही ? क्या इस धर्म के लिए केवल भूतकाल ही हे ? भविष्यकाल है ही नही ?' तब उन्होने जवाब न देते हुये मुझ ही से सवाल पूछा, 'आपकी राय क्या हे ?' मैंने कहा कि जैसे गणित-शास्त्र दिन पर-दिन आगे बढता है और सूक्ष्म बनता जाता है, ज्योतिष शास्त्र मे नये-नये आविष्कार होते जाते हैं और उसका क्षेत्र कल्पनातीत बढ रहा हे, वैसे ही धर्मशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र अधिकाधिक सूक्ष्म होते जाते है और उनमे आइन्दा के लिये अभूतपूर्व विकास के लिए अवकाश है। विज्ञान बढता हे, वैद्यक शास्त्र बढता हे, मानसशास्त्र गहरा होता जाता है, उसी तरह अध्यात्म-विद्या भी बढती आई है और आगे बढेगी। महावीर स्वामी को अहिंसा का जो दर्शन हुआ था उससे आगे बढने वाले किसी पुरुष को देखकर महावीर स्वामी को ऐसा ही लगेगा कि अपना जीवनकार्य कृतार्थ हुआ।

इस बात को हम इन्कार नही कर सकते कि कभी-कभी सारा पुराना जमाना बिगड जाता है, धार्मिक श्रद्धा क्षीण होती हे, ऐसे अवसर पर अपने श्रेष्ठ पुरुषो का स्मरण करना और उनसे प्रेरणा पाना हितकर ही हे। लेकिन भविष्यकाल के बारे मे अश्रद्धालु बनना केवल नास्तिकता है। सच देखा जाय तो दुनिया के सब के सब धर्म अपना बाल्यकाल पूरा करके प्रौढ अवस्था को पहुँचे है। शायद पूरे पहुँचे भी नही है। धर्म के विकास मे पाँच सौ या हजार बरसो का कोई हिसाब ही नही।

मनुस्मृति के समाज-शास्त्र मे चन्द बाते जरूर अच्छी होगी, जो आज हम भूल गये है या खो बैठे है। लेकिन हम यह कह नही सकते कि मनुस्मृति मे जो समाज-विज्ञान पाया जाता है वही श्रेष्ठ था या उस मे कोई दोष थे ही

नही। आज अगर मनुस्मृति मे बताया हुआ जीवन फिर से शुरू हो जाय तो समाज-सेवको को, उसकी चन्द बातो के खिलाफ लडना ही पडेगा।

धर्मपरायण धर्मप्राण व्यक्तियो को इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि भूतकाल की विरासत अत्यन्त कीमती खाद है। उसे खाद्य समझने की भूल हम न करें। अपने पुरुषार्थ से अन्न की नई-नई फसल हर साल पैदा करके उसी अन्न को हम खावे, खाद को नही। हम भूतपरस्त न बनें। भविष्य के और सर्जक बनने के लिए हमारा जन्म है और हमारा धर्म भी आवाहक दिन-पर-दिन व्यापक, गहरा और उज्ज्वल बनने वाला है।

३१-१२-१९५७

नया आध्यात्मिक समाजशास्त्र

मनुष्य-स्वभाव मे जो अनेक सद्गुण है उनमे सहयोग और सहकार का सामाजिक महत्त्व वहुत है। वहुत से लोग एक कल्पना से या ध्येय से प्रेरित होकर जव एकत्र काम करने लगते है तब असाधारण शक्ति पैदा होती हे। अगर ये लोग केवल एक ध्येय से ही नही, वल्कि एकतन्त्र से चलने लगे, तो उनकी शक्ति करीव-करीव अमर्यादित हो जाती है। यह सहकार शक्ति आज के युग मे ही विशेप विकसित हुई है ऐसा कहा जा सकता है। जव लोग व्यक्तिगत जिम्मेवारी पहचान सकते हैं और सोच समझकर कोई तन्त्र पैदा करके उस तन्त्र के अधीन निष्ठा से वरतने लगते है तव उनका सघ-सामर्थ्य शारीरिक, वौद्धिक और आध्यात्मिक तीनो तरफ से सर्वसमर्थ बनता है।

पशुओ मे चन्द पशु जगल मे अकेले-अकेले रहते है और चन्द वडे-वडे झुण्ड वना कर रहते है। हिरन, भेडिये आदि प्राणियो के झुण्ड और उनकी तन्त्रनिष्ठा विख्यात है। पक्षियो मे और कीटको मे भी इस प्रकार की समूह निष्ठा दिखाई देती है। चीटियाँ, मक्खियाँ, दीमक आदि क्षुद्र लगने वाले कीट भी वडे-वडे समाज चलाते हे। जिस टिड्डी दल के हमले से देखते-देखते हमारा भारी नुकसान हो जाता हे उस टिड्डियो के दल मे भी एक तरह की व्यवस्था होती है। कोट्यवधि टिड्डियाँ मील के मील फैलती हैं और एक साथ मिलकर प्रवास करती है। कभी-कभी विलकुल अकस्मात् वे सव की सव अपनी दिशा वदलती हे। यह फेरफार कौन सुझाता है? हुकुम कौन देता हे? और वह सर्वत्र एकदम कैसे फैलती है? यह एक गूढ रहस्य ही है।

लेकिन क्या पशु पक्षियो और कृमि कीटो की इस समूहवृत्ति को हम सहकारिता कह सकते है? मनुष्य की सहकारिता मे उसके व्यक्तित्व का विकास होता हे। वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रेमी होता है। समूह से अलग होकर स्वतन्त्रता से जीने की उसमे हिम्मत होती हे। उसको मालूम होता है कि तन्त्रनिष्ठा को स्वीकार करने मे व्यक्तिगत जीवन के महत्त्व का भाग छोड देना पडता है। उसके गुण दोप भी वह जानता है। और फिर विचारपूर्वक स्वेच्छा से वह तन्त्रनिष्ठा को स्वीकार करता है। क्या पशु-पक्षियो के टाली-धर्म को इस तरह सहकारिता कहना ठीक होगा? शायद ठीक नही होगा।

उनमे व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विकास हुआ है ऐसा कही भी प्रमाणित नही हुआ है। और, इसीलिये उनका जीवन वनस्पति जीवन के समान एक ही ढाँचे मे ढला हुआ होता है। उनका जीवन-प्रवाह एक ही पात्र मे से वहता है।

हिन्दुस्तान मे पहले वडे-वडे अविभक्त कुटुम्व होते थे। एक ही कर्ता पुरुप के अनुशासन मे तीन-तीन चार-चार पीढियो तक के लोग एकत्र रहते थे। इन सभी के जीवन की सुसूत्रता देखकर आश्चर्य व आदर पैदा होता है। ऐसे कुछ कुटुम्व आज भी दिखाई देते है।

चन्द जाति सस्थाए भी इसी तरह सुचारु रूप से चलती आई है और उनमे असाधारण सामाजिक शक्ति पायी गई है। इन कुटुम्वो की और जातियो की इस समूह वृत्ति को सहकारिता कहे या यह केवल एक टोली धर्म है? Herd instinct है? दोनो मे से एक भी पक्ष लेना मुश्किल है। कुटुम्व-निष्ठा मे और जाति-निष्ठा मे वौद्धिक और आध्यात्मिक सद्‌गुणो का विकास होता स्पष्ट दिखाई देता है। इसके विपरीत सहकारिता के मूल मे जो व्यक्तित्व का विकास होना चाहिये वह वहुत ही कम दिखाई देता है।

जो वडे-वडे कुटुम्व चला सकते है या जिनको बडे कुटुम्वो के घटक वनकर रहना साध्य होता है, जाति-निष्ठा के कारण जिन्होने असाधारण जीवनसिद्धि सिद्ध कर वताई है, इतना ही नही, वल्कि धर्म के क्षेत्र मे जिन्होने साम्प्रदायिक सघ पीढी दर पीढी चलाये है, ऐसे हमारे लोग वदली हुई परिस्थिति मे सघटित क्यो नही हो सकते? समाज का सकट वे क्यो पहचान नही सकते? युग-धर्म के अनुकूल सघ कैसे बनाने चाहिये, वह कितने वडे होने चाहिये आदि सघ-विद्या का व्याकरण उनकी समझ मे क्यो नही आ रहा है?

तो फिर क्या आज तक का हमारा साघिक इतिहास केवल एक Herd instinct ही थी? भगवान् बुद्ध ने सब जातियो मे से शिष्य वनाये और उनका एक सघ वहुत अच्छी तरह से चलाया। इस सघ का प्रकार और उसका इतिहास विनयपिटक मे सविस्तर देखने को मिलता है। जो वैष्णव धर्म सारे हिन्दुस्तान मे फैला हुआ है उसमे मुसलमान आदि अन्य धर्म के लोग भी दाखिल हुए और उनको स्वीकार भी किया गया। इतनी व्यापक दृष्टि और सघ-शक्ति का जिन्होने विकास किया वे दुनियाँ मे अपना स्थान किस तरह खो वैठे, यह समाजशास्त्रियो के सामने एक वडा मुश्किल सवाल है।

हमारी कहाँ भूल हुई, उसकी चर्चा हम डेढ सौ साल से करते आये हैं। परस्पर विरोधी उपपत्तियाँ और मीमासा हम सुनते है। लेकिन आज भी नई परिस्थिति के नये आदर्शों की नई जीवन-सिद्धि का नया व्याकरण हमने अब तक हस्तगत नही किया है, हृदयगम नही किया है।

दुनियाँ की भिन्न-भिन्न महाजातियो और समाजो के इतिहास की छानबीन करके—अर्थ शास्त्र, मानव शास्त्र, धर्म शास्त्र, राजनीति, सस्कृतियो का विकास आदि तत्त्वो का अध्ययन करके उसमे से हमे अपना समाजशास्त्र बनाना होगा। पदार्थ विज्ञान, रसायन, वनस्पति-शास्त्र, खनिज विद्या, प्राणी विद्या आदि भौनिक-शास्त्रो का अवलोकन करके उसमे जो कुछ बोध मिलेगा, जो कुछ सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त होगी उस सब का लाभ उठाकर अपनी पूर्व परम्परा की बुनियाद पर अध्यात्म-शास्त्र के नियन्त्रण के नीचे हमे अपना नया आध्यात्मिक समाजशास्त्र तैयार करना होगा और तदनुरूप जीवन कलाओ का विकास करना होगा। यह सब करने का समय कब का आ चुका है। यह सब कौन कब करेगा ?

८ जुलाई १९५८

परम्परा किसे कहें?

'परम्परा निभायें' इसका मतलब क्या? पुराना सब जैसा का वैसा ही सम्भालकर रखना, उसमे कुछ भी परिवर्तन न होने देना, यही उसका अर्थ है? हरगिज नही। पर यानी पीछे से आने वाला। परम्परा का अर्थ है एक स्थिति छोडकर उसके जैसी दूसरी स्थिति को लेना, आगे चलकर उस दूसरी स्थिति को भी छोडकर उसके साथ मेल खाये ऐसी या उसमे से पैदा होने वाली तीसरी कालानुकूल स्थिति को अपनाना। इसे कहते है परम्परा निभाना। हम मकान मे नीचकी मजिल से ऊपर की मजिल को जाते है तो कूदकर या उडकर नही जाते, जीना या सीढी चढकर जाते है। यानि जमीन पर से पहली सीढी पर, पहली सीढी से दूसरी सीढी पर, यो सीढियो के क्रम से ऊपर जाते है। नीचे उतरने के लिये भी कूदते नही है, क्रम से उतरते है।

सामाजिक जीवन मे ऐसा ही क्रम रहता है। समाज चढे या गिरे, उसकी गति, प्रगति या परागति क्रमश होती है। इसलिये मनुष्य परम्परा निभाकर उन्नति भी पा सकता है और अवनति भी।

परम्परा की खूबी दो वस्तुओ पर या तत्त्वो पर निर्भर है—(1) नित्य परिवर्तन करते हुये भी, (2) पुरानी परिस्थिति या पुराने तत्त्वो से सम्बन्ध या अनुबन्ध न छोडना। दूसरे शब्दो मे कहे तो परिवर्तनशीलता यह एक खूबी और सम्बन्ध अविच्छिन्न रखना यह दूसरी खूबी। ऐसी परम्परा ही प्रगति का उत्तम व्याकरण है। From precedent to precedent daily self surpasses—यह है सूत्र परम्परावाद का।

'पुराना छोडना नही और नया लेना नही', यह कोई परम्परावाद का सूत्र नही है, यह तो अपरिवर्तनवाद का है। जिन्दा शरीर बढता है, मुर्दा सडता है, दोनो मे से एक भी अपरिवर्तनवादी नही है। परम्परा की खूबी यही है कि उसमे परिवर्तन क्रमश होता है। सिर्फ क्रान्ति मे क्रम की बात नही है।

कोई पुत्र जब पिता की कोठी सम्भालता है तो पिता की पूँजी पर साँप की तरह बैठे नही रहता। उस पूँजी का उपयोग कर के उसे बढाना है और नये-नये क्षेत्रो मे काम करता है। सिर्फ फर्म का नाम कायम रखकर

और कार्यपद्धति भी हो सके वहाँ तक वही चालू रखकर वह आगे बढता है। सामाजिक सुधार इसी प्रकार होता है। बालको के शरीर, मन और समझ शक्ति में भी जो प्रगति होती है वह भी परम्परा निभाकर ही होती है। परम्परा यानी क्रमयुक्त प्रगति।

यही बात किसी कवि ने कही है कि—बुद्धिमान मनुष्य जब चलता है तब एक पैर स्थिर रखकर दूसरा आगे रखता है, बाद मे उसे स्थिर रखकर पीछे का उठाकर आगे ले जाता है। नयी जगह निहार कर स्थिर करने के बाद ही पीछे की जगह छोडना, इसी मे बुद्धिमानी है। ऐसी बुद्धिमानी के साथ आगे बढना, प्रगति करना तो होना ही चाहिये। ऐसी प्रगति जो धर्म करता आया है उसी को हम सनातन धर्म कहते है। सनातन ही नित्य नूतन होता है।

१५ मई १९६६

स्याद्वाद की समन्वय शक्ति

नया समन्वय

•

त्रिवेणी समन्वय

•

समन्वयकारी जैन दर्शन

•

प्राण और संस्कारिता

•

धर्मों से श्रेष्ठ धार्मिकता

•

धर्म के प्रकार और नये धार्मिक प्रश्न

•

सर्वत्याग या सर्वस्वीकार

•

स्याद्वाद की समन्वय शक्ति

नया समन्वय

जैनो का स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहता है कि सत्य एक ही है, फिर भी देखने वाले की दृष्टि एकागी होने के कारण सत्य का उसे आंशिक साक्षात्कार होता है। एक मनुष्य एक तरफ से देखकर सत्य का एक तरह से वर्णन करता है, दूसरा मनुष्य दूसरी तरफ से देखकर उसी सत्य का बिलकुल विपरीत शब्दो मे निरूपण करता है। साँवला मनुष्य बिल्कुल काले मनुष्य के मुकाबले मे गोरा साबित होता है और गोरे के साथ तुलना करने पर काला ठहराया जाता है। दिल्ली की दृष्टि मे नागपुर शहर दक्षिण की ओर है। पूना के लोग उसे उत्तर की तरफ मानते है। नागपुर मे अगर पूछा जाय तो वह कहेगा, 'मैं अपने विश्व के केन्द्र स्थान मे हूँ। 'औदिच्य या दाक्षिणात्य जैसे विशेषण मैं अपने-आपको क्यो लगाऊँ ? हाँ, इसमे कोई शक नही कि पूना मेरी दक्षिण की ओर है और दिल्ली उत्तर की तरफ।'

स्याद्वाद ध्यान मे आने के बाद बुद्धि और हृदय दोनो समन्वय की दृष्टि स्वीकार करने को तैयार हो जाते हैं।

स्याद्वद की दृष्टि कहती है—भाइयो, अपने-अपने अनुभव दुनिया के सामने रखो। लेकिन दूसरे का अनुभव सही या गलत कहने का आपको कोई अधिकार नही है। आपके अनुभव की जड मे आपकी दृष्टि या भूमिका होगी। दूसरे की दृष्टि उससे भिन्न हो सकती है। अपनी निजी भूमिका पर से उसको जो अनुभव हुआ वह आपसे भिन्न होगा ही। फिर भी वह आप से कम सच्चा हो, इसका कोई कारण नही है। आपको जिस तरह अपने अनुभव का विश्वास होता है और आप उसका आदर भी करते है उसी तरह दूसरा भी अपने खुद के अनुभव के बारे मे करेगा ही। भले आप दूसरे के अनुभव को स्वीकार न करें। उसके बारे मे तटस्थ रहिये। लेकिन दूसरे की दृष्टि के लिए आपके मन मे आदर अवश्य होना चाहिये। भिन्न-भिन्न दृष्टि के लिए आपके मन मे आदर अवश्य होना चाहिये। भिन्न-भिन्न दृष्टियो के बारे मे आदर होना समझदारी का और सस्कारिता का लक्षण है।

पुराने जमाने मे लोग वाद विवाद करते थे और कहते थे कि जो हार जाय वह दूसरे का शिष्य बने। कई लोग अपना सिर देने को तैयार हो जाते

थे। आज का मनुष्य अपने प्रतिपक्षी से कहेगा, देखो, मेरी बात मै तुम्हारे गले नही उतार सकता, इतनी मेरी हार मुझे कबूल करनी ही होगी। लेकिन तुम्हारी बात मुझे जँचती नहीं उसका क्या ? इसलिये उचित यही है कि हम अपना परस्पर मतभेद स्वीकार करने को तैयार हो जायँ। इस तरह की इस समझदारी से ही शान्तिमय सहचार मनुष्य-जाति को मान्य होने लगा है। आपका कहना आपको मुबारक, मेरा मुझे। अब हम समझदारी से तय करे कि कोई भी किसी का रास्ता न रोके। चिन्तन करते-करते एक की दृष्टि दूसरे को मान्य होगी तब होगी। सत्य एक ही होने के कारण कभी न कभी एक दूसरे का कहना एक दूसरे को मान्य होना ही चाहिये। तब तक धैर्य रखने की और राह देखने की दोनो ओर से तैयारी होनी चाहिये। कभी-कभी उच्च भूमिका पर पहुँचने के बाद ही भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ एक साथ सहज मान्य होती है।

हमारे देश मे बौद्ध, जैन और वेदान्त ऐसी तीन धारायें चलती आई है। वेदान्त हमे आत्मौपम्य की साधना बताता है और आत्मैक्य का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ हमारे सामने रखता है। जीव और जगत् एक ही है, आत्मा और परमात्मा मे कोई भेद नही, सर्वत्र एक ही अद्वैत का अखण्ड स्फुरण हो रहा है—यह बात ध्यान मे आने के बाद कौन किसकी हिंसा करेगा ? हर एक हिंसा तत्त्वत आत्म-हत्या ही हे। इतना समझने के बाद हर एक के लिए अहिंसा स्वाभाविक ही बन जाती है।

सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परा गतिम् ॥

इस एक श्लोक मे वेदान्त का रहस्य आ जाता है और वेदान्तमूलक आचार की नीति भी।

जैन दर्शन अनेकान्त की भूमिका पर मे 'केवलज्ञान' की कल्पना करा देता है। 'ईश्वर है या नहीं' इस चर्चा मे वह नही उतरता। जीवन-साधना को ईश्वर से क्या लेना-देना है ? तपस्या के द्वारा सब दोषो को जला दिया, स्याद्वाद से दृष्टि को निर्मल किया कि फिर आत्म-साक्षात्कार होगा ही और जीवन भी सार्थक होगा।

बौद्ध दर्शन कहता है—आत्मा और परमात्मा, जीव और ईश्वर की झझट मे आप पडे ही क्यो ? हमारा सम्बन्ध आता है जीवन के साथ। जीवन की उन्नति करना हमारा ध्येय है। हमारा नित्य का अनुभव है कि जीवन दु खमय है। वह दु ख वासना के कारण पैदा होता है। वासना-विजय से दु ख दूर होकर जीवन शुद्ध होता है। ऐसी जीवन-सिद्धि का मार्ग है—शुद्ध जीवन-दृष्टि, शुद्ध सकल्प, शुद्ध प्रवृत्ति, शुद्ध जीविका आदि आठ प्रकार की साधना। हमारा कर्तव्य है जीवन के प्रति। एक वार जीवन शुद्ध हो गया और अहकार का नाश हुआ तो फिर जो स्थिति होगी उसी को निर्वाण कहते है।

'निर्वाण परमा शान्ति' प्राप्त करने के लिए मनुष्य को धर्माचरण करना चाहिये। हम आज जिसे धर्म कहते है वह वस्तु वहुत जटिल बन गई है। शास्त्र, पुराण, तरह-तरह के पन्थ, त्योहार, व्रत-वैकल्य, श्राद्धादि सस्कार, भूत-प्रेतो की पूजा, दान-धर्म, सदाव्रत—कौन-सी वात का धर्म मे समावेश नही होता ? भगवान् वुद्ध अपने उपदेश मे जिस धर्म का उल्लेख करते थे, उसी को हम 'धम्म' कहे। सब पाप कर्मो का त्याग करना, कुशल कर्म करते रहना, चित्त-शुद्धि के लिए प्रयत्न करना, सयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना और अहकार छोडकर अन्तिम शान्ति तक पहुँचने की तैयारी करना इसको भगवान् 'धम्म' कहते है। 'कल्याणो धम्मो'। धर्म का पालन करने मे, अनुशीलन करने से ही व्यक्ति का, समाज और विश्व का कल्याण होता है।

आयु के अस्सी वर्ष तक इस 'कल्याण धम्म' का उपदेश करके और उसके प्रचार के लिए एक धर्म-सेना तैयार करके सिद्धार्थ गौतमवुद्ध ने निर्वाण प्राप्त कर लिया।

इस वात को ढाई हजार साल हो चुके। भगवान् महावीर भी उसी समय के थे। ढाई हजार साल के वाद दुनिया के राष्ट्रो की स्थिति का खयाल करते और मानव सस्कृति का तय किया हुआ रास्ता देखते आश्चर्य होता है कि भगवान् वुद्ध का उपदेश, भगवान् महावीर का उपदेश और वेदान्त की सिखावन अभी तक 'वासी' नही हुई है और गौडपादाचार्य के अनुसार कहना पडता है कि वाद-विवाद का अखाडा छोडकर समन्वय की उच्च भूमिका पर चलें। हर एक दृष्टि और हर एक भूमिका का सहानुभूति के साथ चिन्तन

करे और ससार के सघर्षों को मिटाकर शान्ति स्थापना की तैयारी करे। निर्विकार प्रेम के वल पर ही यह साधना सिद्ध होने वाली है। इसके लिए जातिभेद, भाषाभेद, सस्कृतिभेद, वर्णभेद, मतभेद आदि सव भेदो को लाघ कर हर एक स्थिति मे मूलभूत विश्वात्मैक्य को पहचानने की साधना सारी दुनिया को करनी है।

१२ फरवरी १९५७

त्रिवेणी समन्वय

हर साल महावीर-जयन्ती आती है और हर साल हम वही बाते करते हैं और मानते हैं कि महावीर प्रभु के प्रति हमने अपना कर्तव्य अदा किया।

वही-की-वही बाते सुनते जब नाविन्य नष्ट हो जाता है और हम कुछ ऊब से जाते हैं तब जयन्ती के समारोह मे नई दृष्टि या नई चीज लाने के लिए मेरे जैसे जैनेतर को बुलाया जाता है। लेकिन अब तो दस-बीस बरस से जयन्ती के अवसर पर और पर्युषण पर्व के अवसर पर व्याख्यान देता-देता मैं भी पुराना हो गया हूँ। मैंने कई बार कहा है कि, दो ढाई हजार वर्ष के पहले अहिंसा, संयम और तपस्या का सन्देश मनुष्य-जाति के सामने रखकर भगवान् महावीर ने सिद्ध किया कि वे सच्चे अर्थ मे आस्तिक-शिरोमणि हैं। ईश्वर पर विश्वास रखना या शास्त्र पर विश्वास रखना कोई सच्ची आस्तिकता नही है। सच्ची आस्तिकता तो यह है कि मनुष्य के हृदय पर विश्वास किया जाये। आस्तिकता का लक्षण यह है कि मनुष्य विश्वास करे कि किसी-न-किसी दिन मनुष्य अपना स्वार्थी, ईर्ष्यालु या क्रूर स्वभाव छोडकर समस्त मानव जाति का एक विश्व-कुटुम्ब स्थापित करेगा और यह कुटुम्ब-भाव बढाते-बढाते भले-बुरे सब प्राणियो का उसमे अन्तर्भाव करेगा। आजकल के युग मे आस्तिकता इस बात मे होगी कि हम विश्वास करे कि रशिया और अमेरिका दोनो किसी-न-किसी दिन मानवता के सिद्धान्त को सर्वोपरि होना स्वीकार करेंगे। आस्तिकता का लक्षण है कि हम हृदय से मानें कि हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई होकर ही रहेगे और हम माने कि पाकिस्तान की नीति भी किसी-न-किसी दिन सुधर जायेगी।

आज विनोबा जो भूदान का काम कर रहे है वह आस्तिकता का काम है। उनका विश्वास है कि आज के स्वार्थी युग मे भी मनुष्य अपना सर्वस्व दे सकता है।

आज के भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीति आस्तिकता का सर्वोत्तम नमूना है। अविश्वास और ईर्ष्या के इस जमाने मे भारत सब-के-सब राष्ट्रो पर विश्वास रखने को तैयार है। इन सब राष्ट्रो का इतिहास और उनकी

करतूते हम नही जानते, सो बात नही । हम अपने दोष भी कहाँ नही जानते ? हम दुनिया से अलग थोडे ही है, तो भी हम विश्वास करते है कि मनुष्य कल्याण की ओर प्रस्थान अवश्य करेगा ।

आज लोग दुनियो के सामने मानवी प्रेम का, विश्व-कुटुम्ब का आदर्श रखते सकोच करते है । सिर्फ Peaceful co-existence अहिंसक सह-जीवन या सहचार की बाते करके ही सतोष मानते है । जब कि भगवान् महावीर ने प्राणी मात्र के प्रति अहिसा का, सब प्राणियो के एक परिवार होने का सदेश दुनिया के सामने रखा और विश्वास किया कि इसका स्वीकार भी मनुष्य जाति अवश्य करेगी । इसीलिये मै भगवान् महावीर को आस्तिक-शिरोमणि कहता हूँ ।

लेकिन आज मैं यह पुरानी बात विस्तार के साथ दोहराना नही चाहता । आज मुझे एक कदम आगे बढकर एक नये समन्वय की बात करनी है—Synthesis और harmony की बात करनी है ।

हम सनातनी लोग उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, और भगवद् गीता को 'प्रस्थान-त्रयी' कहते है । और, तीनो मे जो कोई पुरुष एकवाक्यता या समन्वय सिद्ध कर बतावे उसको 'आचार्य' कहते हैं । यह पुरानी बात हो गयी । अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ढग से 'प्रस्थान-त्रयी' की एकवाक्यता कर दिखाई है और हमारे जमाने मे कई विद्वानो ने इन सब आचार्यों के बीच भी सामजस्य स्थापित कर दिखाया है । शकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क आदि आचार्य जो कहते है वह एक-दूसरे का मारक नही है, किन्तु समर्थक है, ऐसी भूमिका पर हम पहुँचे है । और, इसी कारण भारतीय दर्शन-शास्त्र एक नई समृद्धि पा सका है ।

अब हमे सस्कृति समन्वय की दृष्टि बढाकर अपने देश के लिए तीन धाराओ का समन्वय करना आवश्यक हो गया है । बौद्ध-दर्शन, जैन-दर्शन, और वेदान्त-दर्शन आपस मे चाहे जितना विवाद करें, सस्कृति की दृष्टि से इन तीनो मे सुन्दर समन्वय देखना आज का युग-कार्य है । बुद्ध भगवान् को हम इस युग के अवतार मानते है । बुद्ध भगवान् ने अपने जमाने के दार्शनिक झगडे को देखकर लोगो से कहा कि भले आदमी, इस आत्मा-परमात्मा की झझट मे मत फँसो । आत्मा-परमात्मा अगर हैं तो अपने स्थान पर सुरक्षित

होगे, हमे उनकी चर्चा मे नही पडना है। हम केवल 'धम्म' को मानते है। उसी के पालन मे अपना कल्याण देखते है। 'धम्म' के मानी है सदाचार का सार्वभौम नियम। 'धम्म' ही सच्चा सत्पुरुष धर्म है। बुद्ध भगवान् का कहना था कि मुझको भी 'धम्म' का ही प्रतीक समझो—'यो म पश्यति सो धम्म पश्यति यो धम्म पश्यति सो म पश्यति।' 'कल्याणो धम्मो।' बुद्ध भगवान् के आर्य अष्टागिक मार्ग का प्रचार जगत् के विशाल क्षेत्र मे और अधिकाश मानव जाति मे स्थूल रूप से हो चुका है।

बुद्ध भगवान् के समकालीन भगवान् महावीर ने भी ऐसा ही एक युग-सन्देश दे दिया। ययाति जैसे सम्राट् ने अपने सौ लडको का यौवन अनुभव करने के वाद और हर तरह के विलास मे डूबने के वाद कहा था—"इस सारी दुनियाँ मे जितने चाँवल है, गेहूँ है, तिल है—यानी साधन सम्पत्ति है—और जितने भी दास-दासियाँ है, एक आदमी के उपभोग के लिये भी पर्याप्त नही है, इसलिये भोग-विलास को बढाते मत जाओ, सयम करना सीखो।" भगवान् महावीर ने भी यही तपस्या का व सयम का मार्ग सिखाया। उन्होने यह भी कहा कि मनुष्य का अनुभव एकागी होता है, दृष्टि एकागी होती है, इन सब दृष्टियो के समन्वय से ही केवल सत्य का, सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान होगा। भगवान् महावीर ने यह भी वताया कि लोभ और वासना पर विजय पाने के लिये और सर्वकल्याणकारी समन्वय दृष्टि प्राप्त करने के लिये आत्म-शक्ति बढानी चाहिये। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद को मैने बौद्धिक अहिंसा का नाम दिया है। जिस तरह peaceful Co-existence राजनीतिक या सामाजिक अहिंसा है, उसी तरह एकान्तवाद बौद्धिक अहिंसा है।

इस एकान्तवाद को परिपूर्ण समन्वय का रूप दिया भगवान् गौड-पादाचार्य ने। लोग उन्हे अद्वैताचार्य कहते है। मैं उन्हे समन्वयाचार्य कहता हूँ। वेदान्त की सर्व-सग्राहक दृष्टि का वर्णन करते हुये उन्होने कहा कि "और दर्शन आपस मे लड सकते है, हमारा किसी से झगडा नही है। हम ऐसी भूमिका पर खडे है कि जहाँ से हम सब दर्शनो की खूवियाँ देख सकते है। इसलिये हम सब को स्वीकार करते हैं और उनकी व्यवस्था भी कर सकते है।" यह वेदान्त-दर्शन आज दुनिया के दार्शनिको मे अधिकाधिक प्रतिष्ठा पाने लगा है। यह दर्शन कहता है कि "धर्म" की स्थापना आत्म-शक्ति से ही होगी जरूर, लेकिन उसकी वुनियाद मे विश्वात्मैक्य भाव होना

चाहिये । सब की आत्मा एक है । सब राष्ट्र, सब जातियाँ, सब महावश (रेसेज) एक ही है । इनमे, हम द्वैत चलायेंगे तो मानव जाति का जीवन विफल होगा । गोरे और काले, लाल और पीले और हमारे जैसे गेहुएँ सब एक ही आदि मानव की सन्तान है । रग-भेद, भाषा-भेद, धर्म और देश-भेद से हमारा अद्वैत, हमारा ऐक्य टूट नही सकता । यह है वेदान्त धर्म की सीख । कोई शुद्ध पुण्यवान नही, कोई शुद्ध पापी नही, सारी दुनिया सद् और असद् से भरी हुई है, और इसलिये उसमे अद्वैत यानी ऐक्य है । यह है सच्ची दृष्टि ।

कुछ दिन हुये मैं भोपाल, भेलसा और साची की ओर गया था । भौगोलिक दृष्टि से यह प्रदेश भारत के केन्द्र मे है । बौद्ध धर्म के समर्थ प्रचारक सारपुत्त और मोग्गलान के कारण यह एक तीर्थ स्थान है ही । भगवान् महावीर के परम कल्याणमय उपदेश का प्रचार इस प्रदेश मे कम नही हुआ है ।

और, वेदान्त का प्रचार तो भारतवर्ष के जर्रे-जर्रे मे पहुँच गया है । भारतवर्ष के हृदय के समान उस स्थान को देखकर मेरे मन मे यह समन्वय की नयी 'प्रस्थान-त्रयी' विशेष रूप से स्पष्ट हुई । अनेकान्त का सन्देशा समझने वाले लोगो को चाहिये कि वे इस स्थान पर ऐसी एक प्रचण्ड प्रवृत्ति बो दे कि जिसका प्रकाश सारे भारत मे ही नही, दशो दिशाओ मे फैल जाये । आज का युग समन्वय का युग है । महावीर की जयन्ती के दिन हम सकल्प करे कि बौद्ध, जैन और वेदान्त इस त्रिमूर्ति की हम अपनी सगम-सस्कृति मे स्थापना करेगे और भगवान् महावीर की कृपा से सर्व-धर्म-समन्वय का भी अनुशीलन करेंगे ।

२२-४-५६

समन्वयकारी जैन दर्शन

बौद्धदर्शन, जैनदर्शन, वेदान्तदर्शन इन तीनो का अगर हम समन्वय कर सके तो हमारी तमाम दार्शनिक कठिनाइयाँ दूर हो जायेगी। समन्वय के इस प्रयास मे हमे अधिक से अधिक सहायता मिलती है जैनदर्शन से इसका कुछ चिन्तन करें इसके पहले हम इन तीनो की भूमिका फिर से थोडे मे समझ लें।

हमने कहा ही है कि तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र मे जितने भी दर्शन है, जीवन-रहस्य को ढूँढने की ओर जीवन की सफलता पाने की कोशिश करते हैं। इनमे बौद्धदर्शन का कहना है कि जीवन की गुत्थियाँ हल करने के लिये हमे आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म आदि तत्त्वों की तनिक भी जरूरत नही है। हमारा जीवन है, उसके राग-द्वेष है, उनको प्रेरणा देने वाली तृष्णा याने वासना है, इनके पीछे "मैं हूँ, मैं हूँ" इस प्रकार अपने अस्तित्व का अनुभव कराने वाला अहकार है। इनका स्वरूप समझने से हम देख सकते है कि जीवन जैसा हम जी रहे है, दुःखपूर्ण है। तृष्णा दूर करो, अहकार को खत्म करो (अस्मि मानस्स यो विनयो) तो जीवन मे सुख ही सुख है, शान्ति और सन्तोष है, जो हमारे साथ स्थायी रूप मे रहेंगे। इस दोष-मुक्त स्थायी शान्ति को बौद्ध 'निर्वाण' कहते है।

जैनदर्शन के अनुसार परमात्मा-परब्रह्म की तो कोई दार्शनिक आवश्यकता है ही नही, किन्तु आत्मा को मानना जरूरी है। जिस अवस्था को बौद्ध लोग 'निर्वाण' कहते है, उसे जैन परिभाषा 'केवलज्ञान' कहती है। केवलज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञान है, वह जब तक नही हुआ, मनुष्य के जीवन का आकलन एकागी ही रहता है। जब एक अग से देखता है, तब उसे जीवन के एक अग का साक्षात्कार होता है। दृष्टि दूसरी ओर चलायी तो उसी चीज का दूसरी बाजू से किन्तु एकागी दर्शन होता है। सोचने के जितने तरीके उतने अलग-अलग दर्शन बनते हैं। इसको जैनदर्शन सप्तभगी-न्याय कहता है और उदाहरण देता है सात अन्धो को स्पर्श से हाथी का जो दर्शन होता है, उसके कारण उनके बीच कैसा झगडा हुआ। पाँव को स्पर्श करने वाला अन्धा कहता है हाथी खम्मे के जैसा है, हाथी के पेट को स्पर्श करने वाला

अन्धा कहता है हाथी छत के जैसा है, सूँढ को पहचानने वाला हाथी को अजगर की उपमा देता है और हाथी के कान तो सूप के जैसे है ही। वे सब अन्धे, जहाँ तक उनका ज्ञान था, सही थे। लेकिन एक देश को सर्व देश समझाने की भूल वे करते थे। जैनियो का स्याद्वाद इन सब की एकागिता बताकर अन्धों के झगडो को मिटा देता है। स्याद्वाद नही कहेगा, खम्भा, छत, अजगर और सूप एक ही चीज है, सब अन्धो का अनुभव एक ही है, झगडा केवल शब्दो का ही है। स्याद्वाद अन्धो के वचनो मे एकवाक्यता लाने की कोशिश नही करता। स्याद्वाद कहेगा, इन अन्धो के अनुभव मे एकागिता होने से उनके वचनो मे परस्पर विरोध स्पष्ट है। अगर इन अनुभवो को दृष्टि दी जाये और उनको सारे पूरे हाथी का दर्शन हो जाय तो सब हँस पडेगे और कहेगे, हम क्यो दूसरो के अनुभव को तोडने गये थे! सबकी बात सही है, सिर्फ गलत है विरोध की कल्पना। यही खूबी है समन्वयवृत्ति की।

समन्वय कहता है कि जीवन एक अद्भुत वस्तु है। इसका साक्षात्कार सब को अखण्ड होता ही रहता है, किन्तु आकलन की मर्यादा के कारण अथवा भूमिका मे स्थूल-सूक्ष्म आदि भेद होने के कारण आकलन मे फर्क आता है। उसे दूर करने का काम समन्वय का है। समन्वय ही मनुष्य को जीवन का सम्पूर्ण-परिपूर्ण ज्ञान पाने मे मददगार होता है।

कोई ऐसा नही समझें कि हमारे समन्वय से हम एकदम अन्तिम ज्ञान तक पहुँच जाते है। समन्वय से इतना तो बोध होता ही है कि ज्ञानप्राप्ति क्रमश होती हे। हमारी साधना जैसे बढती है, अनुभव का क्षेत्र अधिकाधिक होता है, व्यापक, गहरा और विशाल होता जाता है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगी।

एक सीधे रास्ते पर से एक मोटर दूर से हमारी ओर आ रही है। प्रारम्भ मे मोटर का दर्शन बिल्कुल सूक्ष्म, एक बिन्दु के जैसा होता है। जब मोटर नजदीक आती है, तब मोटर का धब्बा बनता है और नजदीक आ गई तो हम पहचान सकते है, मोटर का ही वह आकार हे। हम मोटर को ही देखते है। लेकिन उसके और नजदीक आने पर मोटर के भिन्न-भिन्न हिस्से-अवयव दीखने लगते है। मोटर का साक्षात्कार बढता जाता है। मोटर नजदीक आने पर उसका पूर्ण दर्शन होता है। उसके अन्दर बैठने वाले कौन

हैं उनको भी हम पहचान लेते हैं। आखिर जब स्वयं हम अन्दर जाकर बैठते हैं, तब हमें मोटर का दर्शन ही नहीं, अनुभव होने लगता है। मोटर हमारी सेवक है। हम उसके साथ उड़ते जाते रहते हैं और उसकी गति अब हमारी गति हुई है, इसका साक्षात्कार हमें होता है।

जीवन के साक्षात्कार की भी ऐसी ही कुछ प्रक्रिया और उसमें समन्वयवृत्ति हर तरह से मददगार होती है।

बौद्धिक क्षेत्र में स्याद्वाद समन्वय सिखाता है, झगड़े को टालता है। यह हुई नयी बौद्धिक अहिंसा। समन्वय हमें व्यापक दृष्टि देता है, समझाता है कि झगड़े के लिये अवकाश ही नहीं है। यह है बौद्धिक अहिंसा। इस तरह से जब मनुष्य को आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान होता है, तब उसकी स्वार्थिता नष्ट होती है और वह अहिंसा-मूर्ति हो जाता है। जहाँ केवलज्ञान हुआ वहाँ आप-पर-भाव ही नष्ट होता है। फिर कौन किसकी हिंसा करेगा? अगर हम हिंसा करें तो वह अपनी ही हिंसा होगी।

स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय हमें समन्वय के लिए बौद्धिक भूमिका देते हैं। और यही भूमिका हमें शुद्ध वेदान्त की ओर ले जाती है।

अगर जैन दर्शन केवल शास्त्रीय चर्चा छेड़कर और जीवदया प्रेरित मांसाहार निषेध तक अपने को मर्यादित नहीं करेगा और समन्वय का विकास करेगा तो समस्त दुनिया की आज की सब की सब समस्यायें हल करने की दृष्टि और शक्ति उसमें आयेगी। जैन दर्शन और वेदान्त दर्शन परस्पर पूरक हैं, पोषक हैं। समन्वय के लिये दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं, इसका साक्षात्कार होगा तब हम आसानी से आगे बढ़ सकेंगे।

१ अक्तूबर १९६४

प्राण और संस्कारिता

धर्म का प्रयोजन जीवन के विकास के लिये—जीवन-शुद्धि और जीवन-समृद्धि के लिये है, इतना तो हमने देख लिया। असली वस्तु जीवन है। उसे कृतार्थ करने के लिये धर्म की प्रवृत्ति है।

जीवन का आधार है प्राण। प्राण व्यक्तिगत भी होता है और सामुदायिक भी होता है। इस प्राण की अदम्य स्फूर्ति के कारण जीवन अखण्ड चलता आया है। जीवन मे अगर प्राण (Vitality) है तो धर्म मे प्रयोजन है, सयम है। इस सयम का अगर योग्य उपयोग किया तो प्राण-शक्ति वढती है, घटती नही। जिस तरह लगाम खीचने से घोडा अधिक जोर से दौड सकता है अथवा जिस तरह भाप (Steam) को कोठी मे वद करने से शक्ति हासिल होती है उसी तरह सयम के द्वारा प्राण-शक्ति का कार्य वढता है, प्राण-शक्ति कार्य-समर्थ होती है।

सामान्य रूप से स्वीकार करना पडेगा कि सस्कारिता वढने पर प्राण-शक्ति कुछ सौम्य होती है, कुछ क्षीण भी होती है, लेकिन अधिक कारगर होती है।

अगर जीवन-शक्ति को अनिरुद्ध काम करने दिया तो उस मे जोश आता है। लेकिन वह कार्य कृतार्थ नही होता। अगर सयम की मात्रा हद से ज्यादा वढाई तो प्राण क्षीण होता है, अथवा उसमे विकृति आती है।

जव धर्म अपनी जीवन-निष्ठा छोड सिद्धान्तनिष्ठ वनता है तव उस से जीवन-शुद्धि का काम कुछ हद तक अच्छी तरह से होता है। लेकिन सारा-का-सारा समाज उस के तकाजे को न कभी मान सकता है, न निभा सकता है।

प्राकृत लोग कहते है कि 'धर्म का सिद्धान्त तो ठीक ही है, वुद्धि उस को स्वीकार भी करती है। लेकिन जीवन उस के लिये तैयार नही है। जो लोग सर्वोच्च सिद्धान्त का पालन कर सकते है, वे महात्मा है। उन की श्रेष्ठता हम मजूर करते है। हम अल्पात्मा है। हम आदर्श तक नही पहुँच सकते। आदर्श तक पहुँचने का हमारा अधिकार भी नही। हम महाव्रत का पालन भी नही कर सकते, अणुव्रत से सतोप करेंगे।'

इस तरह धर्म मे अधिकार भेद आ गया और समाज मे ऊँच-नीच श्रेणी बँध गई। जिनका सर्वमान्य आदर्श एक है, किन्तु अनुशीलन-शक्ति कम या अधिक है, वैसे ही लोग ऊँच-नीच की श्रेणी-व्यवस्था खुशी से मान्य करते है। जब ऐसा नही होता तब समाज मे दभ पैदा होता है। लोग सिद्धान्त का पालन न करते हुए भी ऊपर से बताते है कि वे उस का पालन कर रहे है।

तीसरा मार्ग पर्याय-धर्म का है। जब मनुष्य फाका रखने का व्रत लेता है लेकिन भूखा नही रह सकता, तब आहार का अर्थ करता है धान्याहार और फलाहार करने पर व्रत-पालन का सतोष मानता है। अगर मास का यज्ञ न कर सका तो माष का यज्ञ करके पिष्ट पशु का बलिदान देंगे।

ऐसा पर्याय-धर्म चलाने मे धर्म निष्प्रभ होता है और उसका फल नही मिलता। मनुस्मृति ने साफ कहा है कि प्रधान धर्म का पालन करने की शक्ति होने पर भी जो मनुष्य आपद्धर्म का आश्रय लेता है उसे धर्म-पालन का फल नही मिलता।

प्राण और सस्कारिता दोनो का यथाप्रमाण मिश्रण करने से मनुष्य का उत्तम विकास होता है। अपनी शक्ति की अपेक्षा कडे धर्म का पालन करने से वह निष्फल होता है। ऐसे आदमी को गीता ने मिथ्याचारी कहा है।

केवल प्राण को समझने वाले को असुर कहा है। केवल सयम को प्रधानता देने से मनुष्य ऋषि मुनि की कोटि प्राप्त करता है। जो दोनो का समन्वय करता है, वही सामाजिक दृष्टि रखने वाला धर्मकार, समाज-धुरीण बनता है। वह हर चीज की मर्यादा जानता है और समाज के कल्याण की भावना मन मे रखकर लोगो का नेतृत्व करता है। आज ऐसे समाज-धर्म की सब से बडी आवश्यकता है। उसी से धर्म-तेज प्रकट होगा और सब का कल्याण होगा।

यह काम करने वालो को आचार्य कहते है। सब शास्त्रो का निरीक्षण-परीक्षण करके उस मे से अपने जमाने के समाज के लिये हितकर भाग जो इकट्ठा करता है (आचिनोति हि शास्त्रार्थम्), उस के बाद ऐसे लोक-हितकारी धर्म की जो समाज मे स्थापना करता है (आचारे स्थापयत्युत), और उस धर्म का लोग श्रद्धापूर्वक पालन करें इसलिये, और अपने कल्याण के

लिये भी, निष्ठा और दृढता के साथ उस धर्म का स्वय पालन करता है (स्वय आचरते वस्तु), ऐसे समाज-नेता को आचार्य कहा है। (स आचार्य प्रचक्षते)।

समाज का प्राण वढे, उस की सस्कारिता मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो और सामाजिक जीवन के आदर्श तक मनुष्य पहुँच जाय इसलिये जो धर्म की स्थापना करता है, प्रचार करता है और आचरण करता हे ऐसो के द्वारा ही युग-धर्म कृतार्थ हो सकता है।

'आचिनोति हि शास्त्रार्थं, आचारे स्थापयत्युत।
स्वय आचरते यस्तु, स आचार्य प्रचक्षते ॥

२६-३-५७

धर्मों से श्रेष्ठ धार्मिकता

"केवल नीति का उपदेश करने से दुनिया सदाचारी नहीं बनती। धर्म-तेज प्राप्त करना केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। उसके लिये श्रद्धा, निष्ठा तो चाहिये ही, इतना ही नहीं किन्तु जिन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान है ऐसे कोई ऋषि-मुनि, गुरु, पैगम्बर के वचन पर, उसके दिये हुए ग्रन्थ पर अनन्य निष्ठा चाहिये। अपनी बुद्धि का प्रामाण्य चलाने में खतरा है इसलिए शास्त्र का प्रामाण्य कबूल करना चाहिये। शास्त्र-वचन पर श्रद्धा-निष्ठा रखकर ही मनुष्य आध्यात्मिक मार्ग में प्रगति कर सकता है और साक्षात्कार तक पहुँच सकता है।"

यह है भूमिका धर्मनिष्ठ लोगों की। श्री राजगोपालाचारी कहते हैं कि ऐसी धर्मनिष्ठा के साथ अगर सकुचितता और एकांगिता आती हो तो उसे बर्दाश्त करके भी धर्मनिष्ठा का पक्ष मजबूत करना चाहिए।

सच्ची धर्मनिष्ठा के साथ सकुचितता और एकांगिता रह सकती है, लेकिन कभी भी जोर नहीं पकडती। अनुभव बढने पर एकांगिता और सकुचितता आप ही आप गल जाती है। क्योंकि एकांगिता और सकुचितता असल में अधार्मिक चीजें है। धर्मनिष्ठा के साथ उनका कायम का मेल बैठ नहीं सकता।

आज की दुनिया में धर्मनिष्ठा कम पाई जाती है। काफी मात्रा में पाये जाते हैं—धर्माभिमान और धर्मान्धता। अथवा यह कहना ठीक होगा कि असल में लोगों में होते है एकांगिता, सकुचितता, दुरभिमान और असहिष्णुता। ये चारों चाण्डाल अपना राज्य मजबूत करने के लिये जिन-जिन चीजों का सहारा लेते है, उनमें मुख्य चीज है धर्माभिमान। धर्मान्धता की मदद से असहिष्णुता, व द्वेषबुद्धि जोर पकडती है। जिस जमाने में जीवन-शुद्धि कम होती है उस जमाने में प्रेम, सेवा, सहयोग और समन्वय वाला सद्गुण-चतुष्टय क्षीण होता है। अभिमान, मत्सर, अविश्वास और शत्रुत्व जैसे इन दोषों को प्रश्रय मिलता है और मनुष्य मानता है कि यही है उसकी धर्म-सेवा की पूंजी।

अब सवाल उठता है कि क्या शास्त्रनिष्ठा, ग्रन्थप्रामाण्य, गुरुवचन के प्रति अन्धश्रद्धा और सनातन रुढि के प्रति पक्षपात ये सब धर्म-वृद्धि के लिए सचमुच आवश्यक है ?

जिस देश मे एक ही धर्म चलता है, जहाँ का समाज एकजिनसी है, वहाँ ऐसी सकुचित श्रद्धा और निष्ठा शायद खतरनाक नही भी हो। लेकिन जिस देश मे (और जिस दुनिया मे) अनेक धर्मों का साहचर्य है वहाँ पर या तो हरेक मनुष्य अपने-अपने धर्म का अभिमान के साथ पालन करे और समय-समय पर और धर्मों के साथ झगडे चलाने की तैयारी रखे अथवा सब धर्मो के प्रति सद्भाव रखकर अपने-अपने धर्म का पालन करे।

धर्माभिमानी लोगो के लिए यह दूसरी बात कठिन होती है। अपने विचारो से या रिवाजो मे जिनका मेल नही बैठता, उनके बारे मे सहानुभूति रखना उनके लिये कठिन होता है। पूरी शक्ति लगाकर कोशिश करे तो वे सहिष्णुता तक जा सकते है। जो चीज नापसन्द होते हुए भी जिसका नाश करना मुनासिब नही है उसी को हम सहन करते है। जिसे सहन करते है उसे मन मे बुरा तो मानते ही है। ऐसी हालत मे मेल-जोल होना, प्रेम-सम्बन्ध बढाना तभी शक्य होता है जब हम भेद के तत्वो को गौण मान सकते है, उसका महत्त्व कम करते है।

यह तभी बनेगा जब हम अपने धर्म की छोटी-छोटी बातो का महत्त्व कम करते है और मानवी सम्बन्ध के महत्त्व को बढाते है। धर्माभिमान यह कैसे सहन करेगा ? अभिमान चीज ही कृत्रिम है। इसलिये उसके खजाने मे कृत्रिम चीजे बहुत रहती है।

सच्चा रास्ता यह है कि जब ईश्वर की दुनिया मे अनेक धर्म है और उनके अनुयायी हमारे जैसे होते हुये भी भिन्न-भिन्न वस्तुओ पर, परस्पर विरोधी वस्तुओ पर कम या अधिक श्रद्धा रखते है, तब हमे उन सब बातो को सहानुभूति के साथ समझने की कोशिश करनी चाहिये।

पशु के बलिदान के जैसा रिवाज हमे पापमूलक और घृणित लगे तो उसके प्रति आदर हो नही सकता। लेकिन बलिदान के पीछे जो अर्पण भावना है, ईश्वर-भक्ति है, त्याग वृत्ति है उसकी ओर ध्यान देने की और उसका आदर करने की शक्ति तो हमारे पास होनी ही चाहिये।

और जो लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पशु को वलिदान चढाते हैं, उनको पशु-हत्या का तनिक भी बुरा न लगता हो तो भी जिनको बुरा लगता है उनका भाव समझने की और उनके हृदय की वेदना की कद्र करने की शक्ति होनी चाहिये ।

इसके मानी ये हुए कि मनुष्य को भिन्न-भिन्न विचार और परस्पर विरोधी भावनायें समझने की और उनके साथ सहानुभूति रखने की शक्ति होनी ही चाहिये । यह तभी हो सकता है जब मनुष्य सभी धर्म-ग्रन्थ और सभी धर्म-सस्थापको के प्रति आदर रखे । और, यह भी तभी बन सकता है जब हरेक धर्म की छोटी-छोटी और गौण वस्तु के प्रति आदमी उदासीन बन जाये सर्व-धर्म-समभाव के साथ अपने धर्म की खामियां और उसकी कमजोरियां समझने की और उनका स्वीकार करने की शक्ति भी होनी चाहिये ।

अनेक देशों के कानूनो का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले के पास एक सार्वभौम सर्वसामान्य कानूनी दृष्टि खडी होती है । फिर वह उस (Jurisprudence) को ही—सार्वभौम न्यायदृष्टि को ही—प्रधानता देने लगता है और सब देशों के कानूनो की कद्र करते हुए और उस-उस देश मे वहाँ के कानूनो का पालन करते हुए, वह अपनी भूमिका उच्च रख सकता है । ऐसे मनुष्य की श्रद्धा-भक्ति कुछ हद तक—काफी हद तक—बुद्धिप्रधान ही होती है । नीति और सदाचार के कानून कभी-कभी सापेक्ष (relative) और साकेतिक (conventional) होते है । यह समझकर उनसे ऊपर उठने का कर्त्तव्य वह स्वीकारता है । ऐसे उदार व्यक्ति की धर्मनिष्ठा अन्धी न होने के कारण, एकागी लोग उसे शिथिल भी कह सकते है । लेकिन सत्यप्राप्ति का और आध्यात्मिकता बढाने का वही तरीका है । सर्वधर्म-समभाव के साथ पक्षपात-राहित्य आ ही जाता है । क्योकि मनुष्य धर्मों को पहचान कर उनमे रही हुई धार्मिकता पाता है और इस चीज का साक्षात्कार करता है कि सार्वभौम धार्मिकता धर्मों से भी श्रेष्ठ है ।

२८ मई १९५७

धर्म के प्रकार और नये धार्मिक प्रश्न

आज तक लोग धर्म के दो विभाग करते थे। वशमूलक और सिद्धान्त-मूलक। हिन्दू, पारसी और यहूदियो के धर्म वशगत धर्म है। यहूदी जाति मे जन्मा हुआ मनुष्य ही यहूदी हो सकता हे। हम लोग उस धर्म मे प्रवेश नही कर सकते। पारसियो का धर्म भी ऐसा ही है। आदमी जन्म से ही पारसी धर्मी हो सकता है। हिन्दू धर्म प्रधानतया वैसा ही है। किन्तु हिन्दू-धर्म की चन्द शाखाएँ ऐसी है जो धर्मान्तर के द्वारा लोगो को अपने मे ले सकती है। आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज और बौद्धधर्म इस प्रकार के है। कोई अग्रेज या चीनी आदमी भी आर्यसमाज मे दाखिल हो सकता है। और फिर हम ऐसे आदमी को हिन्दू कहने के लिए वाध्य हो जाते है। बौद्धो का ऐसा ही है। कोई भी हिन्दू के बौद्ध होने पर उसका हिन्दुत्व मिटता नही। कोई जर्मन या अग्रेज जब बौद्ध धर्म मे आता है—ऐसे कई उदाहरण है—तब उसे हम जरूर हिन्दू ही कहेगे। किन्तु बौद्ध धर्म दुनिया मे इतना फैला हुआ है कि वर्मा, सिलोन, थाइ्‌लैंड, श्याम, कम्बोडिया, चीन और जापान के बौद्धो को शायद हम हिन्दू नही कहेगे। जब कि नेपाल और भूटान के बौद्ध लोग हमारे मन मे हिन्दू ही है और मै तो तिब्बत के बौद्धो को भी हिन्दू ही कहूँगा।

जाति या वश के ऊपर निर्भर रहने वाले इन धर्मों को अग्रेजी मे 'ethnic religion' कहते है।

इसके विपरीत जो धर्म सिद्धान्त-समूह, धर्म-सस्थापक और धर्म-ग्रन्थ पर आधार रखते है उनको कहा जाता है creedal religion। दुनिया के सब लोगो को वे आमन्त्रण देते है कि तुम्हारा उद्धार हमारे ही द्वारा होगा, हमे स्वीकार करो। बुद्ध भगवान् ने अपने धर्म को 'एहि पश्येक' धर्म कहा है। 'आओ और देखो। जच जाय तो स्वीकार करो।' बौद्ध-धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम इस प्रकार के धर्म है।

स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका जाकर हिन्दू धर्म का नही किन्तु वेदान्त धर्म का प्रचार किया। वेदान्त के सिद्धान्त जिसे मान्य है वह

वेदान्ती हो सकता है। अमेरिका मे इस वेदान्त का प्रचार हुआ। लेकिन उसका कोई अलग पन्थ नही हुआ।

जैन धर्म हिन्दू धर्म का ही एक रूप है। जैन समाज हिन्दू समाज के बाहर नही है। जैन सस्कृति हिन्दू सस्कृति का अविभाज्य अग है। हिन्दू समाज अगर जैन सस्कृति को छोड देगा तो उसे अर्धाङ्ग याने लकवा होगा।

जैन मत का प्रचार अकसर भारत मे ही हुआ। इसलिये वह सिद्धान्त-निष्ठ होने हुए भी वस्तुत वशनिष्ठ ही रहा है। दुनिया के किसी भी देश का, किसी भी Race यानी वश का आदमी, तीर्थकरो की नसीहत को स्वीकार करके जैन बन सकता है। लेकिन वैसा प्रयत्न किसी ने किया नही है। सिक्खो का भी ऐसा ही है।

धर्मों का यह जो पुराना द्विविध वर्गीकरण है, उसका मैंने यहाँ तक वर्णन किया। पश्चिम के लोगो को ऐसे वर्गीकरण पसन्द होते है। लेकिन आज मैं एक नये ही ढग से धर्मो का वर्गीकरण करना चाहता हूँ। मेरा वर्गीकरण त्रिविध है।

पहले वर्ग मे ऐसे सब धर्म आते हैं जो ईश्वर केन्द्रिक है। यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम, हमारा वैदिक धर्म, वैष्णव धर्म, ब्राह्म धर्म ये सब ईश्वर केन्द्रिक है। दूसरा वर्ग है आत्म केन्द्रिक धर्म। इसका उत्तम नमूना है जैन-धर्म। इस सृष्टि का सर्जनहार कौन है ? इसका नियन्ता तो कोई होगा ही ऐसी तर्क-प्रणाली मे वे फँसते नही। वे कहते है कि आत्मा है। उसकी शक्ति अमर्यादित है। तपस्या के द्वारा यह शक्ति बढाकर मनुष्य को अपना उद्धार करना है। यह है इस धर्म की मान्यता। आत्मशक्ति बढाने का तरीका है अहिसा, तप और ज्ञान। इसी से मनुष्य को केवलज्ञान प्राप्त होता है और वह मुक्त हो जाता है।

धर्मों का तीसरा प्रकार है जीवन-केन्द्रिक। इस वर्ग के धर्म आत्मा को या परमात्मा को नही मानते। वे मानते है जीवन को। व्यष्टि और समष्टि के सस्कार को। उनका कहना है कि सम्यक् ज्ञान और चारित्र्य के द्वारा मनुष्य अपने दोषो को क्षीण करता है और निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

बौद्ध धर्म का यह हुआ प्रधान स्वरूप। महायान पन्थ ने इस स्वरूप का विस्तार बहुत किया है।

मेरा अभिप्राय है कि साम्यवादी समाज जब धर्म का रूप पकडेगा तब उसे इसी वर्ग मे दाखिल होना पड़ेगा। साम्यवादी लोग ईश्वर को, आत्मा को और इन दोनो पर आधार रखने वाले धर्मो का इन्कार करते हैं।

अगर हम गौर से सोचे तो ईश्वर केन्द्रिक और आत्म केन्द्रिक धर्म भी जीवन-परायण तो होते ही हैं। इसलिये इन तीनो का सामजस्य बैठ सकता है और वही करने के दिन अब आये है। केवल परमात्मा को ही प्राधान्य देने वाला वेदान्त धर्म, तपस्या और अहिंसा द्वारा आत्म-शक्ति का साक्षात्कार करने वाला जैन धर्म और सम्यक् दृष्टि द्वारा जीवन को शुद्ध और दु ख मुक्त करने वाला बौद्ध धर्म इन तीनो का समन्वय करने के दिन अब आये हैं। बौद्धो का धर्म-प्राधान्य, जैनो की अहिंसा-तपोमूलक आत्मनिष्ठा और विश्वात्मैक्य को परमपुरुपार्थ मानने वाले वेदान्त की ब्रह्मपरायणता या ब्रह्मनिष्ठा—तीनो का समन्वय करने से विश्वशान्ति की, सत्ययुग की और सर्वोदय की स्थापना होगी।

बुद्ध परिनिर्वाण के ढाई हजार वर्ष पूरे हुए हैं। ऐसे मौके पर सारी दुनिया मे बुद्ध भगवान् के उपदेश की ओर लोगो का ध्यान गया है। आज सब देशो मे बुद्ध के उपदेश का स्मरण हो रहा है। यही मुहूर्त है कि हम बुद्ध के बताये हुए अवैर के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का अहिंसा का तरीका फिर से आजमावे। जो बुद्ध ने कहा या गाँधीजी ने देश के सामने रखा वही अहिंसा का सिद्धान्त महावीर ने बताया था, इतना कहने से नही चलेगा। अहिंसा के सन्देश को आज के युग को लेकर कार्यान्वित कैसे करे यही मुख्य सवाल है। अब जब आप सेमिनार चलाना चाहते है तब उसके लिए कुछ सशोधन के विषय आपके सामने रखना चाहता हूँ।

सेमिनार के मानी ही हैं सशोधन करने वाला विद्वत्मण्डल। इसलिये कुछ महत्व के सवाल हम अपने सामने रखकर उनका सशोधन—मनन करे।

मैं मासाहार को पाप समझता हूँ। मैं मानता हूँ कि प्राणियो को मारकर उनका मास खाने का अधिकार मनुष्य को नही है। अगर समस्त मनुष्य जाति मासाहार का त्याग करे तो मुझे सतोष होगा।

इसलिये लोगों को मांसाहार-त्याग की सिफारिश करने के पहले मैं इस बात का पता लगा लूँ कि दुनिया में मनुष्य-संख्या कितनी है, इतने लोगों को पेट भर खाने के लिए अन्न कितना चाहिये। मैं यह भी देख लूँ कि आज कुल मिलाकर अन्नोत्पत्ति कितनी होती है। वह अगर अपर्याप्त है तो उसे बढ़ाने के उपाय क्या-क्या हैं? मैं यह भी पता लगा लूँ कि दुनिया में आहार के लिए पशु-पक्षी और मछलियों का कितना संहार होता है। उतना आहार बन्द कराने के लिए मैं उनको दूसरी कौनसी चीज दे सकता हूँ?

पशु-पक्षी आदि प्राणी भी आहार की अपेक्षा रखते हैं। उनके आहार के लिए कितनी जमीन आवश्यक है, यह भी मुझे देखना पड़ेगा। पशु-पक्षियों, की हत्या न करने से उनकी संख्या कितनी बढ़ेगी, इसका भी हिसाब लगाना पड़ेगा और अगर घरेलू या पालतू पशुओं की संख्या हद से ज्यादा नहीं बढ़ने देनी है तो उसका भी इलाज मुझे सोचना चाहिये।

और, यही नियम अगर मनुष्य को लागू करना है तो अहिंसावादी मनुष्य को लोकसंख्या के सवाल में दिलचस्पी रखनी ही होगी।

अहिंसा धर्म के सामने आज सब से बड़ा सवाल है युद्ध का और मनुष्य-मनुष्य के बीच, वंश-वंश के बीच जो स्पर्धा चलती है और प्रयत्नपूर्वक द्वेष बढ़ाया जाता है उसका।

पंचशील अहिंसा धर्म का एक बिलकुल प्राथमिक रूप है। उसको भी स्वीकार कराते कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही हैं। पश्चिम के विद्वान् जिस तरह अनेक सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनीतिक, आर्थिक और मानसिक सवालों का सांगोपांग अध्ययन करते हैं और अपनी मति के अनुसार व्यवहारु उपाय बताते जाते हैं उसी तरह हमें भी करना होगा। यह काम तीन दिन के सेमिनार का नहीं है। आज हम उसका प्रारम्भ कर सकते हैं।

अहिंसा का तीसरा सवाल है—मानव के द्वारा होने वाले मानव के शोषण का।

सवाल यह है कि क्या अहिंसावादी धनवान हो सकता है? अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो क्या धनवान मनुष्य का जीवन अहिंसक है? अगर

नही है तो सम्पत्ति का इलाज क्या ? अहिंसक-समाज रचना मे और Socialistic Pattern मे फर्क क्या है ?

गाँधीजी कहते थे कि अहिंसक समाज की स्थापना अहिंसक ढग से ही होनी चाहिये। इसके मानी यह नही कि हम सामाजिक अन्याय को वर्दास्त करे और केवल अहिंसा धर्म का उपदेश करते रहे। अगर कोई हमारे घर की सम्पत्ति लूट ले जाय अथवा घर के लडके-लडकी को उठाकर ले जाय तो हम आराम से नही बैठते। अस्वस्थ होकर अन्याय का इलाज करते है। उसी तरह का कोई कारगर, अहिंसक तरीका हमे वताना चाहिये और उसे कार्यान्वित करके दिखाना चाहिये।

आहार का सवाल, लोकसख्या का सवाल, युद्ध का सवाल और सामाजिक अन्याय टालने के लिये समाज-रचना मे परिवर्तन करने का सवाल, ये सारे सवाल हमारे सशोधन के विषय हो। इनका अगर हमने रास्ता वताया तो हमारा धर्म फिर से सजीवन और तेजस्वी होगा।

[दिल्ली मे एक जैन सेमिनार मे दिया गया उद्घाटन-भाषण]

सर्व-त्याग या सर्व-स्वीकार

धर्म का आविष्कार किसने किया ? मनुष्य-हृदय ने ? मनुष्य की बुद्धि सामान्यत जितना दूर देख सकती है इससे भी दूर जो देख सकते थे ऐसे क्रान्तदर्शी ऋषि-मुनियों ने और नबी-पैगम्बरो ने या प्रत्यक्ष जन-गण-मन-अधिनायक स्वय परमात्मा ने ?

धर्म शब्द के अर्थ अनेक है। लेकिन इनमे भी दो अर्थ प्रधान है। धर्म का एक अर्थ होता है स्वभाव या प्रकृति। जलाना अग्नि का धर्म है। गीला करना पानी का धर्म है। मौका मिलते ही बहते रहना हवा का धर्म है। इसी अर्थ मे हम कहते है कि तनिक भी दु ख होते रोना बच्चे का धर्म है। तेज भूख लगने पर जो मिले सो खाना यह प्राणीमात्र का और मनुष्य का भी धर्म है। यहाँ धर्म का केवल अर्थ है प्रकृति या स्वभाव।

धर्म का जो दूसरा अर्थ है वह एक ही वाक्य मे स्पष्ट होगा—चाहे जितनी तीव्र भूख लगे, प्राण कठ मे आ जाय तो भी चोरी करके नही खाना, दूसरे को मारकर नही खाना, अयोग्य वस्तु नही खाना, दूसरे को भूखे रखकर स्वय नही खाना, यह है मनुष्य का धर्म।

प्रथम अर्थ का धर्म स्वभावगत या प्राकृतिक धर्म केवल समझने की वस्तु है। उस मे भले-बुरे का भाव नही आता। जब हम कहते है देखना आँखो का धर्म है तब हम इतना ही कहना चाहते है कि आँखो मे देखने की शक्ति है। अधिक मे अधिक हम यह कह सकते है कि आँखें देखने को उत्सुक होती हैं। सामान्य तौर पर आँखो से देखे बिना नही रहा जाता। लेकिन जब हम कहते है कि अश्लील चीजें आँखो मे नही देखनी चाहिये तब हम आँखो के प्राकृतिक धर्म मे ऊँचा उठना चाहते है। प्रकृति को रोककर, स्वभाव को दबाकर किसी उच्च आदर्श को सिद्ध करना चाहते है। आँखो का जीवन कृतार्थ करना चाहते है। भूख लगे तब खाना, जो मिले सो खाना पशुओ के साथ मनुष्य का भी स्वभाव-धर्म है। किन्तु खाने की वासना के वश होने के पहले सोचना और खाने की क्रिया की योग्यता और अयोग्यता का खयाल करना यह है मनुष्य का धर्म। और, जैसा कि ऊपर कहा है भूख चाहे जितनी

तेज हो जब खाना हराम मालूम हो तब खाने से परहेज रखना, यह है मनुष्य का धर्म ।

सकट देखते ही जान बचाने के लिये भाग जाना यह है प्राणिमात्र का स्वभाव-धर्म । लेकिन किसी को सकट से बचाने के लिये अपने प्राण खतरे मे डालना, प्राणो की परवाह नही करना, यह है मनुष्य का कर्त्तव्य-धर्म ।

ऐसे धर्म का आविष्कार किसने किया ? गीता कहेगी कि प्रजापति भगवान् ने स्वय प्रजा के साथ-साथ ही उसके कर्त्तव्य-धर्म का भी सर्जन किया है । स्वभाव धर्म मनुष्य को प्रकृति ने दिया और जीवन को कृतार्थ करने वाला कर्त्तव्य धर्म भगवान् ने मनुष्य के हृदय मे जागृत किया । (प्राणियो मे भी अपने बच्चे की या अपने समूह की रक्षा का भाव भगवान् ने इतना उत्कट किया है कि नर-मादा अपने बच्चे की या समुदाय की रक्षा के लिये अपना प्राण भी देते है । इस बात से प्राणियो मे कुछ हद तक मनुष्य के जैसा धर्मोदय हुआ है सही ।)

ऐसा धर्मोदय भगवान् की प्रेरणा से ऋषि-मुनियो के, साधु-सतो के, समाज नेता—धर्म सस्थापको के हृदय मे होता है । ऐसा धर्म धीरे-धीरे मनुष्य-हृदय मे विकसित होता जाता है । लेकिन किसी भी देश मे, किसी भी जमात मे, किसी भी जमाने मे देखिये, धर्मभेद होते हुए भी धर्म-विकास की दिशा एक ही होती है ।

अपनी वासनाओ के ऊपर विजय पाना, जो उचित है उसी को करना, अनुचित नही करना, अपने हृदय का विकास करते-करते अन्यो के साथ अपनी एकता का अनुभव करना, यह है धर्म का व्यापक स्वरूप । ऐसे धर्म का स्पष्ट उपदेश सुनते ही हृदय धीरे-धीरे उसके अनुकूल होने लगता है । ऐसे धर्म के पालन के लिये शक्ति इकट्ठा करना, यही है मनुष्य की साधना ।

मनुष्य-स्वभाव मे और एक बात भरी पडी है कि जो कोई सच्चे धर्म का बोध कराता है अथवा धर्म-पालन के लिये जरूरी शक्ति कमाने मे मदद करता है उस के प्रति कृतज्ञ बनना, उसके कहे अनुसार चलना, उस के हाथ मे अपना जीवन अर्पण करना, मनुष्य के लिये स्वाभाविक है । ऐसी अर्पण बुद्धि जब बढती है तब मनुष्य लोकोत्तर त्याग और पराक्रम कर सकता है ।

इसीलिये कहते है कि धर्म का प्रचार, धर्म-प्राण, तेजस्वी मनुष्य की प्रेरणा के विना नही होता ।

वडे-वडे समाजो के लिये व्यापक सामाजिक धर्म का जिन्हे ने विस्तार से चिन्तन किया और लोगो को रास्ता दिखाया उनको हम धर्मकार कहते है । वैदिक ऋपि, मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकार, गौतम बुद्ध, महावीर आदि पथप्रदर्शक, हजरत मूसा, हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद, हजरत कन्फ्यूशियस आदि पैगम्बर ये सव मनुष्य-जाति के प्रधान नेता ह । इन्होने अपने-अपने वश के लोगो को रास्ता दिखाया । उनके वाद भी उनके अनुयायियो ने देश और काल की मर्यादा लाघकर इन धर्म-सस्थापको के उपदेश का फैलाव किया ।

अव धर्म की मूल प्रेरणा कहाँ से आई यह सवाल गौण हो गया । अव तो धर्म-सस्थापक, उनके वचनो का सग्रह करने वाले धर्म-ग्रथ, उनको गद्दी पर वैठने वाले उनके शिष्य और उनके द्वारा स्थापित परम्परा, यही हो गया धर्म का मूल उद्गम या स्रोत । आज जो धर्म के नाम झगडे होते है, अनाचार-अत्याचार होते हे वे सव इस तन्त्रनिष्ठा के कारण ही होते है । धर्म-निष्ठा की जगह तन्त्रनिष्ठा आ गई । 'हमारा धर्म सच्चा, तुम्हारा धर्म झूठ या कच्चा । हमारे धर्म का हम फैलाव करेगे । दूसरे धर्मों की खच्ची करेगे । यही सघर्पात्मक प्रवृत्ति चली, फैल गई । धर्म के अनुसार जीवन-परिवर्तन करने की वात गौण हो गई । अपने धर्म का अभिमान रखना, दूसरो के धर्मो के प्रति अनादर या तिरस्कार रखना, दूसरे धर्म की नुक्ताचीनी करते रहना और धर्म के नाम पर सघर्प वढाना, यही एक वडी प्रवृत्ति हो गई ।

इस विपम और भयानक परिस्थिति से वचने के लिये मानव कल्याणकारी दीर्घदृप्टि उदार महात्माओ ने सर्व-धर्म-सहिप्णुता, सर्व-धर्म-समभाव का सार्वभौम युग-धर्म वताया ।

हमारा धर्म पर विश्वास है । हम मानते है कि सर्व-धर्म-समभाव वाला सार्वभौम धर्म अन्यान्य सव धर्मों मे सामजस्य स्थापित करेगा ।

लेकिन जिनके प्रति हमारे मन मे गहरा आदर है ऐसे लोकहित-चिन्तक हमे कहते है धर्ममात्र के प्रति जिनके मन मे कोई विशेष आदर, आस्था या निष्ठा नही रही ऐसे लोग आपकी वात मानेगे सही । लेकिन क्या

किमी भी धर्म के निष्ठावान अनुयायी ने आपकी बात मानी हे ? सर्व-धर्म समभाव की ही बात लीजिये । कोई कट्टर रोमन कैथोलिक, कट्टर मुसलमान तो क्या कोई कट्टर बौद्ध भी आपकी बात मानने को तैयार है ? ऐसा एक भी उदाहरण दिखाइये और बाद मे सर्वधर्म-समभाव की अथवा सर्वधर्म ममभाव की बाते करे। कट्टर लोगो की धर्मनिष्ठा इसी मे है कि वे अपना धर्म छोडकर और किसी धर्म को धर्म मानने के लिए तैयार नही ।

(स्मरण होता है कि जयपुर के एक सनातनी शास्त्री ने कहा कि सब धर्मों मे सनातन हिन्दू धर्म ही श्रेष्ठ है । इतने पर कई पुराने सनातन धर्माभिमानी शास्त्री बिगड गये । उन्हो ने कहा, 'सनातन धर्म की श्रेष्ठता की बात करते आपने कबूल तो किया ही कि बाकी के भी धर्म है । अगर आपकी धर्मनिष्ठा सच्ची है तो आप केवल सनातन धर्म को ही धर्म कहे । बाकी सब अधर्म है ।' यही वृत्ति कट्टर इस्लामियो की और कैथोलिक आदि इसाइयो की है । लेकिन हमने घर का ही उदाहरण लेना अधिक उपयोगी मान लिया ।)

सर्वधर्म-समभाव या सर्वधर्म-समन्वय तक पहुँचने के लिये इतनी तो हृदय की उदारता आवश्यक है ही कि हर एक धर्म की खूबियाँ हम पहचानें । धर्म के विधि-निषेधो के पीछे रही केवल धार्मिकता ही हम पुरस्कार करें और कालग्रस्त या गौण बातो की उपेक्षा करे ।

इस पर नये लोग कहते हे कि कालग्रस्त धर्मों की झझट मे हम पडे ही क्यो ? सब धर्मों की बलाये दूर रखकर हम लोगो से क्यो न कहे, "भले आदमी, अपने-अपने हृदय की प्रेरणा को ही मान लो । सगठित धर्मों की बातें ही छोड दो ।"

वासना-परतन्त्र मनुष्य को बचाने के लिये धर्म पैदा हुआ । उसी के पीछे वामनाएँ सगठित हुई और उन्होने मनुष्य को पथ-परतन्त्र फिरकाभिमानी बनाया । आप धर्मों को गौण करके धार्मिकता को बढावा देना चाहते है । लेकिन धार्मिकता तो कब की निष्प्राण हो चुकी है । परतन्त्र मनुष्य को धर्म-परतन्त्र बनाने की अपेक्षा स्वतन्त्र ही क्यो नही करते है ?

इन लोगो की बात सही है । लेकिन हम उन्हें पूछते है "इस रास्ते भी आपको सच्चे और पक्के कितने अनुयायी मिले ?" आप जवाब देंगे कि

अनुयायी तो सब से बडी बला है। कोई किसी का अनुयायी न रहे इसी बात का हम पुरस्कार करे।

बात फिर से यहीं आकर खडी होती है कि जिन लोगो मे धर्म का आग्रह नही होता, जिनकी 'धर्म'-निष्ठा शिथिल होती है वे ही सर्व-धर्म समभाव की बात मानते है और वे ही धर्मों को गौण बनाकर हृदय की स्वतन्त्रता कबूल करते है।

ऐसी हालत मे हृदय की स्वतन्त्रता स्थापित करने के लिये सब धर्मों का विरोध करने की अपेक्षा सब धर्मों के उत्तम तत्त्वो का स्वीकार करना ही अच्छा रास्ता है। हम सघर्ष मे न उतरे। हृदय से सब धर्मों के प्रति आत्मीयता धारण करे और धार्मिकता की शक्ति पर विश्वास रखे, यही सच्चा मार्ग है। तत्त्वनिष्ठा और व्यवहार दोनो की दृष्टि से यही मार्ग ठीक है।

स्याद्‌वाद की समन्वय शक्ति

आज के युग की मुख्य माँग है, समन्वय। मतभेदो के प्रति हम आदर-भाव रखते हैं। लेकिन हम चाहते है कि भिन्न मतावलबी लोग आपस मे लडे नही। केवल चर्चा से झगडो का अन्त नही आता। सत्य की प्रतीति चर्चा से नही, किन्तु हृदय से होनी चाहिये। बुद्धि के द्वारा सत्य का एकागी दर्शन हो सकता है। स्याद्‌वाद ने यही बात हमे सिखाई है।

हृदय के द्वारा और जीवन के द्वारा सत्य का अनुभव करते मतभेद का स्वरूप और मतभेदो का कारण धीरे-धीरे समझ मे आने लगता है और भेद के अश गौण बनते है।

समन्वय का प्रयत्न कौन करे? मैं मानता हूँ कि जो लोग स्याद्‌वाद का रहस्य समझते है, उन्ही का प्रथम कर्त्तव्य है कि दार्शनिक चर्चाये छोडकर हर एक वाद की भूमिका वे समझ ले और जीवन मे सघर्ष रूपी हिंसा टालकर सहयोग रूपी अहिसा का रास्ता खुला कर दे।

मैं जापान तीन दफे गया हूँ। बौद्ध धर्म का पालन करने वाले लोगो से लका मे, ब्रह्मदेश मे, चीन और जापान मे मिला हूँ। मै मानता हूँ कि बौद्ध धर्म का यानी बौद्ध जीवन-साधना का रहस्य समन्वयकारी हृदय ही अधिक अच्छी तरह से समझ सकता है।

एक दफे जापान से लौटते मैं श्री विनोबाजी से मिला था। मैंने कहा कि, "आपने और मैंने वेदान्त दर्शन का अध्ययन किया है। गौडपादाचार्य ने अपनी कारिका मे कहा है कि अद्वैतवादी की भूमिका इतनी ऊँची है कि वहाँ पर किसी से झगडा ही नही हो सकता। मैंने तो अद्वैत मे समन्वय ही देखा है। तार्किक अद्वैत की बात मैं नही करता। जीवन के क्षेत्र मे अद्वैत की साधना समन्वय ही सिखाती है। इस समन्वय के द्वारा वेदान्त और बौद्ध-दर्शन एक-दूसरे के नजदीक आ सकते है।"

श्री विनोबाजी ने कहा, "मेरा मन भी उसी दिशा मे काम कर रहा है। मै बोधिगया मे एक समन्वय आश्रम की स्थापना करना चाहता हूँ।"

श्री विनोवाजी के कहने से मैंने इसी विषय पर सर्वोदय सम्मेलन में एक व्याख्यान भी दिया और श्री विनोवा ने अपने व्याख्यान में उस की पुष्टि की।

बुद्ध गया एशिया के लोगों को एकत्र करने वाला एक पवित्र स्थान है।

मैंने तुरन्त देखा कि बौद्ध जीवन-साधना, जैन जीवन-साधना और वेदान्त की जीवन-साधना तीनों का उत्तम समन्वय हो सकता है। और, ऐसा समन्वय ही भक्ति के वायु मंडल में दुनिया का उद्धार कर सकता है। स्याद्वाद अथवा समन्वय ही अहिंसा का सर्व-कल्याणकारी साधन अथवा औजार है। (अहिंसा के समर्थ शस्त्र को शस्त्र न कह कर औजार ही कहना चाहिये।)

समन्वय के इस सर्व-समर्थ औजार या साधन की मदद से सारे विश्व को हम एक परिवार बना सकते हैं। 'यत्र भवति विश्व एकनीडम्।'

जैन मुनियों की परम्परा सामान्य नहीं है। उन में जितनी रूढि-निष्ठा है, उतनी ही तत्त्व-निष्ठा भी है। और, तत्त्व-निष्ठा की विजय रूढि पर जब होगी, तभी जीवन सफल होता है। रूढि-निष्ठा, मरण की दीक्षा है। तत्त्व-निष्ठा जीवन और प्रगति की दीक्षा है।

अब युग-धर्म कहता है कि तत्त्व-निष्ठा को समन्वय की दृष्टि से जीवन की ओर देखना चाहिये।

मैं मानता हूँ कि युग-धर्म समन्वय को ही सफल बनायेगा।

जैन धर्म और अहिंसा

जैन धर्म और अहिंसा

•

जीवन-व्यापी अहिंसा और जैन समाज

•

अहिंसा का नया प्रस्थान

•

अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान

जैन धर्म और अहिंसा*

धर्म की अनेक व्याख्याये की गई है। मेरे विचार से धर्म की उत्तम व्याख्या यह है "जीवन-शुद्धि और समृद्धि की साधना जो दिखाये वह धर्म है।" प्रत्येक धर्म मे आत्मोद्धार के लिये जो बाते बताई गई है, उनके द्वारा ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। यह साधना दो प्रकार से होती हे। केवल अपना ही विचार करके आत्मशुद्धि से आत्म-विजय प्राप्त करना और अन्त मे मुक्त होना, यह पहली साधना है। दूसरी साधना वह है जिसमे केवल व्यक्ति का विचार न करके समस्त समाज का विचार किया जाता हे। सारे व्यक्तियो को मिलाकर समाज बनता है और वह समाज ही मुख्य माना जाता हे। जैसे हम शरीर के एक-एक अवयव का विचार नही करते, परन्तु समग्र शरीर का विचार करते हैं, वैसे ही मुख्यत विचारणीय प्रश्न यह हे कि सगठन बनाकर रहने वाली मनुष्य-जाति अहिंसा की साधना कैसे कर सकती है।

मेरी मान्यता के अनुसार अभी तक मनुष्य-जाति की बाल्यावस्था थी, इसलिये केवल व्यक्ति के लिये मार्ग विचारने और बताने से हमारा काम चल जाता था। परन्तु अब जो कार्य हमारे सामने है वह विकट और व्यापक हे। अब निश्चित तथा व्यवहार्य सामाजिक साधना बताने के दिन आये है। आज की साधना केवल आत्मशुद्धि की नही परन्तु समाज-जीवन की शुद्धि की साधना है।

प्रत्येक बालक को कभी न कभी ऐसा लगता ही है कि कल जो बात मेरी समझ मे नही आती थी वह आज समझ मे आ रही है। मनुष्य को भी अक्सर ऐसा लगता है कि अमुक महापुरुष के इस जगत मे आने के बाद ही इतनी बात हमारी समझ मे आई। प्रत्येक धर्म मे साधना का मार्ग दिखाने वाले महापुरुष आते हे। मुसलमानो का विश्वास है कि इस्लाम के नबी मुहम्मद साहब ने जो कुछ कहा वह अन्तिम वचन है। सनातनी हिन्दू भी ईश्वर के अमुक सख्या के अवतारो मे विश्वास करते है। जैन भी चौबीस

---

* तारीख 6-6-80 को बम्बई मे हुई सभा मे अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण का सारभाग।

तीर्थंकरो मे विश्वास करते हैं। जैन लोग मानते है कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर हुये है, अब आगे कोई तीर्थंकर नही होगे।

लेकिन यह दलील मेरे गले नही उतरती। कोई एक व्यक्ति चाहे जितना महान् हो, फिर भी उसके साथ धर्मशास्त्र पूर्ण नही हो जाता। तब तो माना जायेगा कि मनुष्य-जाति की प्रगति का अन्त हो गया। इससे तो यही माना जा सकता है कि विश्व की रचना को चलाने वाली अगम्य शक्ति या तो तृप्त हो गई है या निराश हो गई है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। साधना का सस्करण और परिष्करण बार-बार होना ही चाहिये। यह कार्य करने वाले व्यक्ति भी बार-बार आने ही चाहिये। जिस समय चार व्रतो की आवश्यकता थी उस समय चार व्रतो से काम चला। लेकिन जब उनमे परिवर्तन करके व्रतो की सख्या पाँच करने की आवश्यकता हुई तब ऐसा कहने वाले व्यक्ति निकल आये और चार के पाँच व्रत हो गये। इसी प्रकार समय-समय पर मार्ग-दर्शन करने वाले महापुरुष निकल ही आते है।

अहिंसा एक सनातन तत्त्व है। अमुक समय के पहले अहिंसा नही थी, यह नही कहा जा सकता। समय-समय पर अहिंसा का प्रचार करने वाले पुरुष निकल ही आते है। मुझे सदा यह लगा है कि अहिंसा की सच्ची साधना ब्रह्मचर्य मे, सयम मे है। जो मनुष्य भोग-विलास मे डूबा रहता है और वैसा करके मरने के लिये बच्चे पैदा करता है, वह अहिंसक नही है। जीवन मे विलासिता कामुकता कम हो तो ही सच्ची अहिंसा को जीवन मे उतारा जा सकता है और समाज मे उसे फैलाया जा सकता है।

पुण्य दु खकर है, लेकिन उसका फल सुखकर है, जब कि पाप बाहर से अथवा प्रारम्भ मे सुखकर होता है, लेकिन उसका फल दु खकर होता है। इसलिये भोग-विलास का सुखकर मालूम होना स्वाभाविक है। मनुष्य जिस हद तक विलासिता का त्याग करता है उसी हद तक वह अहिंसा-धर्म के निकट पहुँच पाता है। विलासिता को दूर करने के लिये इन्द्रियो की वृत्तियो को जीतना पडता है। इसी को तप कहा जाता है। यह तप ही अहिंसा है। यह साधना व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनो प्रकार से होती है। उसे बताने वाले तीर्थंकर समय-समय पर आते ही रहने चाहिये। और, इस प्रकार सनातन अहिंसा-धर्म का विकास होना चाहिये।

अपराध के लिये सजा देना मनुष्य-जाति का बडा अपराध है। दूसरो को सजा देने वाले हम कौन होते है? अपराध के लिये अपराधी को प्रायश्चित्त करना चाहिये। अपराध के लिये सजा देकर तो हम हिंसा को घटाने के बदले प्रतिहिंसा करते है। सजा देने से मनुष्य का सुधार नही होता। सजा देकर हम भले ही संतोष अनुभव करे, परन्तु वास्तव मे उससे हिंसा दुगुनी होती है। अपराध करने वाले की हिंसा अप्रतिष्ठित मानी जाती है। जब किसी अपराधी को सजा होती है तो लोग उस कार्य को अच्छा मानते है, इसलिये यह प्रतिहिंसा प्रतिष्ठित मानी जाती है। यह उलटे मार्ग की साधना है। इतनी बात हम समझ लें, तो अहिंसा का मार्ग हमारी समझ मे आ जायेगा। भावी तीर्थंकर हमें अवश्य कहेंगे कि अपराधी को सजा देना भी अपराध ही है। क्रोधी के सामने अगर हम क्रोध न करें, तो अन्त मे उसे शान्त होना ही पडेगा। 'अतृणे पतितो वह्नि स्वयमेवोपशाम्यति'—तृणरहित स्थान मे पडी हुई आग अपने आप बुझ जाती है।

आज हम अहिंसा के बाल्यकाल मे है। अहिंसा के विकास के लिये बडे धीरज और अखूट साहस की जरूरत है। मार्ग लम्बा है। समाज मे अहिंसा की शिक्षा का कार्य करना आवश्यक है। इसके लिये अनेक महापुरुष आयेंगे और मार्ग दिखायेंगे।

केवल स्थूल हिंसा का त्याग पर्याप्त नही होगा। जहाँ धन के ढेर जमा हो गये है वहाँ उनकी नीव मे शोषण का पाप है—हिंसा है। अमेरिका मे क्वेकर सम्प्रदाय के लोग अहिंसक है और धनी भी है। भारत मे जैन लोग अहिंसक होने का असाधारण दावा करते है। फिर भी वे धनाढ्य है। द्रोह के बिना धन नही मिलता। इसलिये मेरी समझ मे नही आता कि अहिंसा और धन का मेल कैसे बैठ सकता है। आप चीटियो के दर के सामने आटा डालें, रात्रि-भोजन न करे, आलू न खायें—यह सब तो अच्छा है। परन्तु यह आरम्भ की क्रिया है। हमें तो अहिंसा-धर्म मे आगे बढना है। जगत मे जब युद्ध चल रहा हो तब हम शान्त कैसे बैठ सकते है? हमे इसे रोकने का मार्ग खोजना चाहिये। हमारे विचारो मे परिवर्तन की आवश्यकता है। कई लोग कहते है कि युद्ध तो यूरोप मे लडा जा रहा है, हमारे देश मे तो गाँधीजी के प्रताप से सब ठीक चल रहा है। लेकिन मैं कहता हूँ कि हमारे देश मे प्रत्येक प्रान्त मे भीतर ही भीतर फूट फैली हुई है, हर जगह अविश्वास फैला हुआ है। ये सब हिंसा के ही प्रतीक है। यूरोप के पास अस्त्र-शस्त्र है, इसलिये वहाँ के लोग

युद्ध करते है। हम एक-दूसरे के पैर खीचकर एक-दूसरे को नीचे गिराते है। वृत्ति से तो दोनो एक से ही है। वहाँ समर्थों की शस्त्राधारी हिंसा चलती है, यहाँ असमर्थो की अविश्वास, द्वेप, निद्रा और द्रोह-मूलक हिंसा।

अदालत मे जाने के वदले पच के द्वारा अन्याय दूर कराना और अन्याय करने वालो को अपना वनाकर उसकी शुद्धि का प्रयत्न करना—इस प्रकार की अहिंसक साधना का विकास विचारपूर्वक अभी तक हमने नही किया हे।

सरकारी अन्याय के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करने के वजाय सत्याग्रह करने की अहिंसक साधना हमारे जमाने मे गाँधीजी ने ही वताई है। राज्य के विरुद्ध किये जाने वाले पुराने 'त्रागा' (धरना) या ऐसे ही दूसरे विद्रोह मे अहिंसा नही थी। शायद ऐसा कहा जा सकता हे कि उसमे अहिंसक पद्धति के वीज थे।

राष्ट्रो के वीच जो युद्ध लडे जाते है उनके वजाय चढाई करने वाले शत्रु का अहिंसक पद्धति से प्रनिकार कैसे किया जाय, यह सोचने या सुझाने का मौका गाँधीजी को भी नही मिला है।

अमेरिका मे या अफ्रीका मे गोरे लोग काले लोगो पर जो जुल्म ढाते है, उन्हे दूर करने का अहिंसक मार्ग दिखाने की जिम्मेदारी अहिंसा के उपासको और आचार्यों की है। परन्तु आज तो ये लोग शास्त्र-वचनो की व्याख्या करने मे और परम्परागत मार्ग से अपने तप या प्रतिप्ठा को वढाने मे ही मशगूल है।

आज दुनिया मे वडी से वडी हिंसा शोपण की चल रही है। दूसरो की कठिन परिस्थितियो का लाभ उठाकर उनकी सेवाओ का दुरुपयोग करना और उन पर अनुचित अत्याचार करना अर्थात् उनके जीवन का शोपण करना वहुत वडी हिंसा है। इस तरह की हिंसा परिवारो मे भी चलती है। जमीदार और काश्तकार खेत मे काम करने वाले मजदूरो के मालिक और खेतीहर मजदूर, कारखानेदार और कारखाने के मजदूर उच्च वर्गों के लोग और श्रमजीवी लोग—इन सव के सम्बन्धो मे शोषण की, दवाव की और जुल्मो की हिंसा सतत चला ही करती है। साहूकार मनमाना व्याज लेकर कर्जदार को चूसता है यह भी हिंसा ही है।

जैन समाज तथा जैन साधुओ और आचार्यों को यह सोचना चाहिये कि इस सारी हिंसा का सामना कैसे किया जाय और इस दृष्टि से समाज-जीवन का परिवर्तन करने के लिये कौनसे कदम उठाये जाने चाहिये।

जब हमारा समाज धर्मप्राण था उस समय हमारे धर्माचार्य तत्कालीन विज्ञान की मदद से साहस पूर्वक जीवन परिवर्तन करने मे हिचकिचाते नही थे और समाज की पुरानी रूढियो का विरोध करने मे भी डरते नही थे।

शरीर-शुद्धि के लिए पचगव्य मे गोमूत्र का भी प्राशन करने की प्रथा के पीछे वैज्ञानिक साहस स्पष्ट दिखाई देता है। पानी मे सूक्ष्म कीटाणु होते है इसलिये पानी को गरम करने और उसे तुरन्त ठण्डा करने की जो प्रथा जैनो ने चलाई, उसमे आज के डॉक्टरी आग्रहो से कम हिम्मत नही थी। जैन साधुओ का केशलुञ्चन तथा मुख पर बाँधी जाने वाली 'मुँहपत्ती' भी सामाजिक शिष्टाचार की परवाह न करके एक प्रकार के विज्ञान से चिपके रहने की हिम्मत का ही प्रतीक है। वहुबीज वनस्पति न खाना, रात्रि-भोजन न करना इत्यादि सुधारो का प्रचार जिन आचार्यों और साधुओ ने किया, वे आज के जमाने मे विज्ञान का अनुसरण करके यदि चिन्तन करे और नये आचार का प्रचार करे, तो कोई यह नही कह सकेगा कि आज के जैन आचार्य धर्म-परायण न रहकर रूढि-परायण हो गये है और आज के जैन साधु अन्ध-परम्पराओ का निष्प्राण जीवन जीते है।

जो चीज बुरी मानी जाती है वह कितनी ही सुखकर, प्रिय अथवा प्रतिष्ठित क्यो न हो, तो भी उसका त्याग करने के लिये तैयार होना और अद्यतन विज्ञान तथा धर्मज्ञान आज जो नई दृष्टि प्रदान करे उसका अनुसरण करने के लिये तैयार होना जीवन्त और प्राणवान रहने का लक्षण है। जो व्यक्ति जीवन पर विजय प्राप्त करता है वह जिनेश्वर है। अब ऐसे अनेक जिनेश्वर उत्पन्न होने चाहिये। उनके आने की हम तैयारी करे और उनके स्वागत के लिये लोक-मानस तैयार करे।

•

जीवन-व्यापी अहिंसा और जैन समाज

लोग पूछते है, और अचरज की बात तो यह है कि मेरे जैन मित्र भी मुझे पूछने लगे है, कि आप इस युग मे अहिंसा और मासाहार की बात क्या लेकर बैठे है ? एक पुराने जैन मित्र तो मुझे समझाने लगे कि "हम जैनियो का जो वर्तमान रुख है उसमे हमे सन्तोष है। हम प्राणी-हत्या नही करते। कीडे-मकोडे भी हमारे हाथो न मर जांय इसकी सम्भाल रखते है। बहुबीज वनस्पति भी नही खाते। इस तरह से अपना जीवन निष्पाप बनाने की कोशिश करते हैं। हमारे साधु हम लोगो की इस वृत्ति को बढावा देते हैं। महावीर की वाणी सुनाते है। स्वय सूक्ष्म हिंसा से भी बचने की कोशिश करते हैं। वे तप करते हैं। हम दान करते है। इनसे अधिक आजकल के जमाने मे क्या हो सकता है ? दूसरे लोग मासाहार करते है। प्राणी-हत्या करते है। इसका हमे दु ख है। लेकिन हम न कभी उनकी निन्दा करते है, न उनको रोकते है। दु खी होकर बैठ जाते है। यही तो आपका Peaceful Co-existence है न ? इसी नीति से हम और हमारा धर्म बच गये है।"

मैं इस अलम् बुद्धि से और सन्तोष से डरता हूँ। इस भूमिका की बुनियाद मे केवल बौद्धिक ही नही, किन्तु नैतिक अप्रगतिशील आलस्य और जडता है। भगवान् महावीर ने क्या चाहा था और हम कहाँ ठहर गये है यह गम्भीरता से सोचना चाहिये। हम निष्पाप बने इतना बस नही है। आज की स्थिति मे अपने को निष्पाप मानना हृदय को धोखा देना है। क्या दुनिया भर की प्राणी-सृष्टि को हत्या से बचाने का, उसे अभयदान देने का हमारा कर्तव्य नही है ? मनुष्य मनुष्य के बीच जो वैर, द्वेष और हिंसा विश्वव्यापी बन रही है, उसे रोकना नही है ? ज्ञानी, बुद्धिमान और चतुर लोग सारी दुनिया को निचो रहे है यह क्या हम स्वस्थचित्त होकर बर्दाश्त कर सकते हैं ?

हमारी तिजारत और हमारी महाजनी हिंसा से मुक्त है ?

जब गाँधीजी ने विश्व के लिये अहिंसा का नया प्रयोग शुरु किया तब उसमे जैनियो का सहयोग कितना था ? जब सब राष्ट्रो के शान्तता-वाद के प्रतिनिधि इकट्ठा होते है तब जैन धर्म के चन्द जागरूक प्रतिनिधि जीवदया

का साहित्य ले आते है। लेकिन विश्व समस्या के हल करने मे अपना हिस्सा नही लेते।

आज जो अहिंसात्मक सामाजिक नवजीवन का क्रान्तिकारी प्रयोग भूदान-ग्रामदान के नाम से चल रहा है, उसे बढावा देने मे जैन-समाज अग्रसर क्यो नही ?

सम्पत्ति निर्माण मे और उसके न्याय-विभाग मे जो जीवन-व्यापी हिंसा चलती है उसे रोकने के लिये समाजवाद कोशिश कर रहा है। उसे जैन-धर्म का अविभाज्य अग बनाने की ओर जैन साधुओ का मानस क्या नही काम कर रहा है ?

भारतीय समाज मे ऊँच-नीच भाव दृढमूल बन गया है। यह जो भयानक विराट हिंसा भारत मे चल रही है उसे जडमूल से उखेडने का काम जैन-धर्म का अविभाज्य अग नही है ? सम्पत्ति के उपभोग मे और सम्पत्ति के उत्पादन मे भी मर्यादा का स्वीकार करना जैन-धर्म मे शुरू से कहा गया था। उसका क्या हुआ ?

ये सब बाते छेडने का मेरा इरादा नही था। स्वर्गस्थ धर्मानन्द कोसबी के कुछ लेख के सिलसिले मे मेरा ध्यान इस ओर खीचा गया। इसलिये जो कुछ लिखना पडा, उतना लिख करके मै खामोश हो जाता। जैन समाज की अजागृति के बारे मे स्वय जैनो ने और औरो ने काफी लिखा है। किसी व्यक्ति या समाज की तौहीन करने से किसी का भी भला नही होता। केवल कटुता बढती है और कभी-कभी दुर्जनता की बाढ आती है।

लेकिन मैं देखता हूँ कि अब जैन समाज मे विचार-जागृति के दिन आ रहे है। लोगो मे अपने जीवन-क्रम के बारे मे असन्तोष पैदा हो रहा है। जैन साधु भी अपना पुराना रूप छोडकर नये ढग से सोचने लगे है। दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी, तेरापन्थी ऐसे भेद से भी लोग अब ऊबने लगे है। पुराने ग्रन्थो का प्रकाशन करना, देशी भाषा मे या अग्रेजी मे अनुवाद कराना और बढिया कागज पर ग्रन्थ प्रकाशित करना, इसी को जो लोग धर्म-सेवा का महत्त्वपूर्ण काम मानते थे उनमे भी नव-जागृति आने लगी है।

मै देखता हूँ कि अब इस नव-जागृति मे यथासमय बाढ आयेगी, और जैन समाज कायापलट करेगा। जैन समाज रूढिग्रस्त है, लेकिन

क्षीणवीर्य नही है, पुरुपार्थी है। मैं मानता हूँ कि इस जागृति का असर श्रावकों पर प्रथम होगा। साधुओ पर देरी मे होगा। साधु समाज चाहे जितना निस्पृह, अपरिग्रही या स्वल्प परिग्रही हो, जब तक वह निवृत्ति-परायण है तब तक परावलम्बी है ही। परावलम्बी लोग रूढि को जल्दी-जल्दी तोड नही सकते। सम्भव है कि नये युग के अनुसार एक नया ही साधुवर्ग तैयार होगा और वह साधु सस्था मे क्रान्ति लायेगा। यह बात केवल जैन साधुओ की नही। सब धर्म के साधुओ की ऐसी ही बात है। मैं उनका मानस जानता हूँ। जब उनमे परिवर्तन होगा तब वे अपना तेज प्रगट कर सकेंगे। धर्म-तेज के ऊपर समय-समय पर जो राख छा जाती है उसे दूर करने की शक्ति साधु सस्था के पास नही होती। लेकिन जो लोग यह काम कर सकते है उन्ही के द्वारा नयी साधु सस्था स्थापित की जाती है, (जो अपने जमाने का क्रान्ति-कार्य पूरा करने के बाद फिर से रूढिग्रस्त हो जाती है)। शकराचार्य के जैसे सुधारक सन्यासी के अनुयायी आज रूढि धर्म के सब से बडे समर्थक हो गये है। इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है। सस्कृति का जीवनक्रम ही ऐसा होता है।

२६-२-५७

अहिंसा का नया प्रस्थान

जीवदया, मासाहार का त्याग और अहिंसा, इन तीन बातो का प्रचार कुछ रिवाजी-सा हो गया है। जैन-धर्मियो की ओर से इन तीनो विषयो मे कुछ-न-कुछ प्रकाशित होता ही रहता है। अनेक सस्थाये भी चलती है। गाँधीजी ने श्रीमद् राजचन्द्रजी से कुछ प्रेरणा पाई, इस बात से जैनियो का राजी होना स्वाभाविक है। गाँधीजी के अहिंसा प्रचार का स्वरूप कुछ अलग ही था। लेकिन जीवदया और मासाहार-त्याग दोनो के बारे मे गाँधीजी का उत्साह कम नही था। मनुष्य के लिये मासाहार स्वाभाविक नही, शाकाहार, धान्याहार अथवा अन्नाहार ही मनुष्य के लिये योग्य आहार है ऐसा गाँधीजी का दृढ विश्वास था। पश्चिम के चन्द शाकाहारी अपने सिद्धान्त के प्रचार मे शाकाहार के नैतिक तत्त्व पर भार न देते हुए मासाहार मनुष्य शरीर के लिये बाधक है इस बात पर अधिक जोर देते है। गाँधीजी जब आखरी वक्त लन्दन गये थे जब वहाँ के शाकाहारी मण्डल को उन्होने भारपूर्वक कहा था कि शाकाहार-प्रचार को केवल आरोग्य-प्रधान वैद्यकीय बुनियाद मत दीजिये। शाकाहार की बुनियाद तो नैतिक याने दयामूलक आध्यात्मिक ही होनी चाहिये।

गाँधीजी ने भारत के हम लोगो को समझाया कि मासाहारी लोगो को पापी कहने से या समझने से हमारा प्रचार बिगड जायेगा। यूँ देखा जाय तो शाकाहार और फलाहार मे भी सूक्ष्म हिंसा तो है ही और दूध कोई वनस्पति-जन्य पदार्थ नही, प्राणीज वस्तु है। दुनिया की अधिकाश जनता मासाहारी है। वह मासाहार को पापमूलक नही समझती। ऐसी हालत मे हम धैर्य के साथ और प्रेम के साथ उन्हे समझाने की कोशिश करें। लेकिन उनके प्रति नफरत रखने का पाप न करें।

लेकिन गाँधीजी ने मानव-मानव के बीच जो भयानक सघर्ष और विद्वेष चल रहा है उसी को केन्द्र मे रखकर अहिंसा का प्रचार किया। राष्ट्र-राष्ट्र के बीच, वश-वश के बीच, वर्ग-वर्ग के बीच और धर्म-धर्म के बीच जो विद्वेष और सघर्ष पाया जाता है उसे दूर करदे। अन्याय का प्रतिकार आत्म-बलिदान द्वारा करने का शास्त्र गाँधीजी ने बताया। विश्व के मानव-हित-चिन्तक गाँधीजी की यह बात समझ गये है और अपने-अपने ढग से इस चीज

का अध्ययन, विचार और प्रचार कर रहे है। उनके इस प्रचार मे गहरा चिनन और चैतन्य है। गाँधीजी के इस महान् अहिंसा-प्रचार का काम राजनैतिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर प० जवाहरलाल नेहरू कर रहे है।

अन्तर्राष्ट्रीय मानवी सघर्ष टालने का महत्त्व जो लोग समझ गये हे और इस दिशा मे प्राणप्रण से प्रयत्न कर रहे है वे अधिकाश आहार मे मासाहारी है, इतने पर से अगर हम उनसे घृणा करेंगे या अलिप्त रहेगे तो हमारा काम नही चलेगा। अहिंसा के सच्चे पुजारी मनुष्य-मास खाने वाले क्रव्यादो को भी दूर नही रखेंगे। उनसे घृणा नही करेंगे।

(ऐसे लोग आज भी अफ्रिका मे कही-कही पाये जाते है। कल तक उनका मनुष्य-मासाहार जाहिरा तौर पर चलता था।) ऐसे लोगो के बीच जाकर अहिंसा का प्रचार करने की जो हिम्मत करेगा वही महावीर का शिष्योत्तम गिना जायेगा। ईसा मसीह के चन्द शिष्य अफ्रिका मे जाकर प्रेम-धर्म का प्रसार कर रहे है। वे जानते है कि वहाँ अहिंसा का आत्यन्तिक प्रचार हो नही सकता, क्रमश आसान सीढी के जैसा ही वहाँ प्रचार होना चाहिये। ऐसे प्रचार के लिये लोकोत्तर वीर्य और धैर्य की आवश्यकता है। वीर्य और धैर्य अहिंसा के प्रधान लक्षण है। यह बात जैसी गाँधीजी ने समझाई वैसी ही अपने जमाने मे भगवान् महावीर ने भी समझाई थी।

अहिंसा धर्म का प्रचार इस नये प्रस्थान के द्वारा ही होगा। रूढिग्रस्त बेजान प्रचार छोडकर जिन लोगो ने इस नये प्रस्थान को समझा है और उसको स्वीकार किया हे, उन्ही को शतश प्रणाम। भविष्य उन्ही का है। भूतकाल की उपासना बहुत हुई। शास्त्रो की खदान मे खोद-खोदकर अहिंसा निकालने की और सग्रहीत करने की प्रवृत्ति बहुत हुई। शास्त्र-वचनो का दोहन भी बहुत हुआ। अब तो जीवन का चिनन और पुरुपार्थ का दोहन करने के दिन आ गये। हमारे सामाजिक जीवन मे उच्च-नीच भाव मूलक जो हिंसा फैल गई हे, प्रतिपक्षी के प्रति उग्र द्वेप भाव रखना जो हमारे लिये स्वाभाविक बन गया है उसका इलाज हम करे तो वह अहिंसा-साधना का प्रारम्भ होगा।

अहिंसा का यह युगातर जो पहचानेगा उसी को अहिंसा का वीर्य और धैर्य प्राप्त होगा।

१ अप्रैल १९६१

अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान

जैन दृष्टि की जीवन-साधना में अहिंसा का विचार काफी सूक्ष्मता तक पहुँचा है। उसमें अहिंसा का एक पहलू है जीवो के प्रति करुणा और दूसरा है स्वय हिंसा के दोष से बचने की उत्कट कामना। दोनो मे फर्क है। करुणा मे प्राणी के दु ख निवारण करने की शुभ कामना होती है। प्राणियों का दु ख दूर हो, वे सुखी रहे, उनके जीवनानुभव मे बाधा न पडे, इस इच्छा के कारण मनुष्य जीवो के प्रति अपना प्रेम बढाता है, सहानुभूति बढाता है और जितनी हो सके सेवा करने दौडता है।

दूसरी दृष्टि वाला कहता है कि सृष्टि में असंख्य प्राणी पैदा होते हैं, जीते हैं, मरते है, एक-दूसरे को मारते है, अपने को बचाने की कोशिश करते है। यह तो सब दुनिया मे चलेगा ही। हरएक प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दु ख का अनुभव करेगा। हम कितने प्राणियो को दु ख से बचा सकते है ? दु ख से बचाने का ठेका लेना या पेशा बनाना अहकार का ही एक रूप है। इस तरह का ऐश्वर्य कुदरत ने या भगवान् ने मनुष्य को दिया नहीं है। मनुष्य स्वय अपने को हिंसा से बचावे। न किसी प्राणी को मारे, मरावे या मारने मे अनुमोदन देवे। अपने को हिंसा के पाप से बचाना यही है अहिंसा।

इस दूसरी दृष्टि मे यह भी विचार आ जाता है कि हम ऐसा कोई काम न करे कि जिसके द्वारा जीवो की उत्पत्ति हो और फिर उनको मरना पडे। अगर हमने आस-पास की जमीन नाहक गीली कर दी, कीचड इकट्ठा होने दिया तो वहाँ कीट-सृष्टि पैदा होगी। पैदा होने के बाद उसे मरना ही है। वह सारा पाप हमारे सिर पर रहेगा। इसलिये हमारी ओर से जीवोत्पत्ति को प्रोत्साहन न मिले इतना तो हमे देखना ही चाहिये। यह भी अहिंसा की साधना है।

इसी वृत्ति से ब्रह्मचर्य का पालन अहिंसा की साधना ही होगी। जीव को पैदा नही होने दिया तो उसे पैदा करके मरणाधीन बनाने के पाप से हम बच जायेंगे।

करुणा इससे कुछ अधिक बढती है। उसमे कुछ प्रत्यक्ष सेवा करने की बात आती है। प्राणियो को दु ख से बचाना, उनके भले के लिये स्वय कष्ट

उठाना, त्याग करना, सयम का पालन करना यह सव क्रियात्मक वाते अहिंसा मे आ जाती है ।

आजकल जैन समाज मे इसकी चिन्ता नही चलती कि हम हिंसा के दोप से कैसे वचे । जो कुछ जैनियो के लिये आचार वताया गया है उसका पालन करके लोग सतोष मानते है । धर्मबुद्धि जाग्रत है, लेकिन धार्मिक पुरुषार्थ कम है तो साधक अणुव्रत का पालन करेगे । साधना वढने पर दीक्षा लेकर उग्र व्रतो का पालन करेगे ।

अव जिन लोगो ने जीवदया के अहिंसक आधार का विस्तार किया उन लोगो ने अपने जमाने के ज्ञान के अनुसार वताया कि पानी गरम करके एकदम ठडा करके पीना चाहिये । आलू, वैंगन जैसे पदार्थ नही खाने चाहिये । क्योकि हरएक वीज के साथ और हरएक अकुर के साथ जीवोत्पत्ति की सम्भावना होती है । एक आलू खाने से जितने अकुर उतने जीवो की हत्या करने का पाप लगेगा । सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवो की हत्या से वचने के लिये इतना सतर्क रहना पडता है कि वही जीवन-व्यापी साधना वन जाती है । पानी गरम करके एकदम ठडा करना, मुँहपत्ती लगाना, शाम के वाद भोजन नही करना इत्यादि रीतिधर्म का विकास हुआ ।

शुरु-शुरु मे यह सव वैज्ञानिक शोध-खोज थी । हमारा वैज्ञानिक ज्ञान जैसा वढेगा उसके अनुसार हमारा अहिंसा का आकलन भी वढेगा, वढना चाहिये । और, उसके अनुसार आचार-धर्म मे सूक्ष्मता भी आनी चाहिये । साथ-साथ अगर अनुभव से कोई वात गलत सावित हुई तो पुराने आचार-धर्म वदलने भी चाहिये । अहिंसा धर्म जड रूढिधर्म नही है । वह है वैज्ञानिक धर्म । विज्ञान के द्वारा जैसे-जैसे हमारा जीवविज्ञान, प्राणिविज्ञान वढेगा वैसा हमारा अहिंसा का आचारधर्म भी अधिकाधिक सूक्ष्म वनेगा । विशिष्ट प्राणी मे या वस्तु मे जीव है या नही है इसकी खोज तो होनी ही चाहिये । जैन तीर्थंकर और आचार्यों के दिनो मे जीव-सृष्टि का विज्ञान जहाँ तक वढा था, उसके अनुसार उन्होने अहिंसक धर्म का आचार-धर्म कैसा-कैसा होना है यह वताया । वे लोग अपने जमाने के विज्ञान-निष्ठ थे ।

आज उसी प्राचीन वैज्ञानिक दृष्टि का हम ने रूपान्तर कर दिया है वचननिष्ठा मे और रूढिनिष्ठा मे ।

इधर आज की दुनिया मे, विशेष कर पश्चिम मे जीव-विज्ञान बहुत कुछ आगे बढा है। जीव किसे कहे, किस चीज मे जीव तत्त्व कितना है, उसका विकास कैसे होता है, जीवो को मरण क्यो आता है, मरण से बचाने के लिये क्या-क्या करना चाहिये आदि अनेक बाते नये ढग से, नई दृष्टि से सोची जाती है और सोचनी चाहिये। यह है अनुसधान का विषय, न कि तीर्थंकरो के, गणधरो के, आचार्यों के आप्त-वचनो का अर्थ करने का। अगर हम वैज्ञानिक दृष्टि छोड कर व्याकरण, तर्क और दृष्टि-समन्वय के आधार पर चर्चा ही करते रहे तो वह दृष्टि वैज्ञानिक न रह कर वकीलो के जैसी चर्चात्मक ही बन जायेगी।

इसलिये हमे जीवविज्ञान मे, मनोविज्ञान मे और समाजविज्ञान मे अनुसधान करना होगा। प्रयोग और चिन्तन चला कर गहरा अनुसधान करना पडेगा और वह भी हमारी निजी मौलिक दृष्टि से।

पश्चिम के प्रयोग-वीरो ने जो आज तक अनुसधान किया है, उससे हम लाभ उठायेंगे जरूर, लेकिन उनका प्रस्थान ही हमे मान्य नही है। पश्चिम मे वनस्पतिविज्ञान, जीवविज्ञान, कृमि-कीट आदि सूक्ष्म प्राणी-विज्ञान, आदि विज्ञान के अनेक विभाग अथवा क्षेत्र दिन-पर-दिन प्रगति करते जा रहे है, लेकिन उनका प्रस्थान ही गलत है। सामान्य तौर पर नीचे दिये गये सिद्धान्त ही उनके बुनियादी सिद्धान्त है।

(1) जिस तरह मिट्टी, पत्थर, पानी, सोना, चाँदी, लोहा आदि धातु, यह सारी भौतिक सृष्टि मनुष्य के उपयोग के लिये है, उसी तरह सारी की सारी मनुष्येतर सृष्टि भी मनुष्य के उपयोग के लिये है। वृक्ष, वनस्पति, कद मूल, फल आदि वनस्पति-सृष्टि मनुष्य के उपभोग के लिये है, उसी तरह कीट-सृष्टि, पशु-पक्षी, आदि द्विपाद, चतुष्पाद और बहुपाद प्राणियो की सृष्टि, पशु-पक्षी आदि स्थलचर, साँप आदि सरिसृप और मछलियाँ आदि जलचर सब मनुष्य के आहार के लिये, सेवा के लिये, उपभोग और आनन्द के लिये है। इन्हे मार कर खाना, पकड कर काम मे लाना और उन पर अपना स्वामित्व रखना यह सब मनुष्य के अधिकार मे आता है।

(2) अगर इनकी सख्या कम होने लगी तो इनकी पैदाइश बढे, इनकी नई-नई नस्लें तैयार हो जाये और इनसे अधिकाधिक सेवा मिल जाय इसलिये सब तरह से पुरुषार्थ करने का भी मनुष्य को अधिकार है।

(3) वनस्पति-सृष्टि का और प्राणसृष्टि का उपयोग करते अगर कुछ नुकसान होता है, रोग होते है, बाधाये पहुँचती हैं, खतरे उठाने पडते है तो अपनी बुद्धि चलाकर इन सब चीजा का और प्राणियों का उपभोग निराबाध बन सके इसका इलाज भी ढूंढना।

(4) और, इस तरह से वनस्पति और प्राणि-सृष्टि पर अधिकार जमने के बाद उनसे जो लाभ होता है वह सारी-की-सारी मनुष्य जाति को मिल सके इसलिये आवश्यक वैज्ञानिक सशोधन करना, सगठन बढाने की शक्ति बढाना और अधिक-से-अधिक लोगों को अधिक-से-अधिक लाभ आसानी से मिल सके ऐसी व्यवस्था काम मे लाना।

इन चारे पुरुषार्थों मे मूल विचार है स्वामित्व प्राप्त करके उपभोग करने का। अहिंसा का प्रस्थान बिलकुल इसके विपरीत होगा। इसलिये हमारी फिजिकल लैबोरेटरी मे वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे, एनिमल हसबेडरी मे— पशु-सवर्धन मे हमारी दृष्टि ही अलग होगी।

हम कहेगे कि वनस्पति, पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर जीवसृष्टि को जीने का स्वतन्त्र अधिकार है। न हम उनके मालिक है, न उन पर हमारा कोई अधिकार है। बात सही है कि इनके बिना हम जी नही सकते, लेकिन इन्हे मारने का, इन्हे लूटने का, इनके परिश्रम से लाभ उठाने का हमे कोई नैतिक अधिकार नही है। इसलिये यह सारी स्वार्थी प्रवृत्ति घटाने की हमारी कोशिश होनी चाहिये। अहिंसा और मानवता की दृष्टि से हमे एक ऐसा क्रम बाँधना होगा, जिसके द्वारा अपने जीवन मे हम हिंसा को उत्तरोत्तर कम करते जाय। आज गाय, बैल, भैंसे आदि बडे-बडे जानवरो को अभयदान दिया, कल बकरे, मेढे, दुबे, हिरण आदि छोटे जानवर को मारना छोड दिया, परसो मासाहार मे मछलियाँ और अडे के बाहर मासाहार न करने का नियम बनाया, आगे जाकर प्राणी के शरीर से उत्पन्न होने वाले दूध घी आदि स्वाभाविक आहार की मदद लेकर धान्य, फल, सब्जी, कदमूल आदि अन्नाहार से सतोप माना, उसके बाद हिम्मत पूर्वक दूध आदि पदाथ अडे क जैसे ही त्याग मानकर उनके बिना चलाने की कोशिशे करना और दूध, घी आदि मासाहार के प्रतीको की जगह वनस्पति मे से हम क्या-क्या पैदा कर सकते है इसके प्रयोग करना, यह होगी हमारी अहिंसावृत्ति की शोध खोज।

अगर दूध देने वाली गाय पवित्र है, तो शहद देने वाली मधुमक्खी भी उतनी ही पवित्र है गौहत्या महापाप है तो शहद की मक्खियो को मारना,

उनके छत्तो का नाश करना, धुआँ और आग के प्रयोग से उनका नाश करना, यह सब हिंसा है, घातकता है और अनावश्यक क्रूरता है, यह भी समाज को समझाना चाहिये।

रेशम के लिये जो हम कीटसृष्टि मे भयानक सहार चलाते है उसका भी हमे विचार करना होगा। इसमे इतना कहने से नही चलेगा कि इतनी हिंसा हम मान्य रखते है, बाकी की मान्य नही रखते। केवल मान्यता की ही बात सोची जाय तो उसमे अनेक पथ पैदा होगे ही और ऐसे पथो को मान्य रखना ही धर्म्य होगा।

मनुष्य को मार कर खाने वाले समाज भी इस दुनिया मे थे। प्राचीन या मध्यकालीन जैन मुनियो ने ऐसो के बीच जाकर भी उन्हे अहिंसा की ओर आकृष्ट किया। इसके आगे जाकर पशु-पक्षी का मास खाने वाले लोगो ने गाय-बैल का मास छोडा, यह भी एक प्रगति हुई। लेकिन इतने पर से गाय-बैल का मास खाने वाले को हम पापी या पतित नही कह सकते, उनकी घृणा भी नही कर सकते। दुनिया मे बहुमती उनकी है। उनकी धर्मबुद्धि और हमारी धर्मबुद्धि मे फर्क है। ऐसे करोडो हिन्दू है, जो पूज्यभाव के कारण गाय-बैल का मास नही खाते, किन्तु इतर पशु-पक्षिय का मास खाते हैं। ऐसे भी हिन्दू हैं जो बतक के अडे खाते है, किन्तु घृणा के कारण मुर्गी के अडे नही खाते। मुसलमान ऐसी ही घृणा के कारण सूअर का मास नही खाते। यहूदियो के भी अपने नियम है।

और, हिन्दुओ मे भी गोमास खाने वाले नही सो नही।

यह सारा विस्तार इसलिये किया है कि हम केवल आदर और तिरस्कार पर आधारित मनोबृत्ति के वश न होकर वैज्ञानिक ढग से प्रयोग करते जायँ और सब के प्रति हम सहानुभूति रखे।

और, अब अहिंसा की हमारी साधना केवल शास्त्र-वचनो पर और धार्मिक रस्मरिवाजो पर आधारित न रखकर उसे वैज्ञानिक सशोधन का विषय बनावे।

आज तक पशु-हिंसा, निरामिषाहार, तपस्या और आहार-शुद्धि इतनी ही दृष्टि प्रधान रख कर अहिंसा का विचार और प्रचार किया और पुराने जमाने की स्थूल वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार एकेन्द्रिय प्राणी, पचेन्द्रिय प्राणी आदि भेदो की बुनियाद पर अहिंसा के नियम बनाये। अब जब विज्ञान

और खास करके जीवविज्ञान बहुत कुछ वढा है और हम नई बुनियाद लेकर जीवविज्ञान वढा सकते है। तव पुराने, कालग्रस्त जीवविज्ञान से हम सतोष न माने। जो बुनियाद मजबूत नही है उसे छोड दे और वचन-प्रामाण्य एव पुराने धर्मकारो के अनुयायित्व से सतोप न मान कर आध्यात्मिक दृष्टि से नये-नये प्रयोग करने के लिए हम तैयार हो जाएँ।

इसके लिए पश्चिम की प्रयोगशालाओ से भिन्न अहिंसा-परायण प्रयोगशालाओ की स्थापना करनी होगी। प्रयोग-वीर अध्यापक उसमे काम करेगे। सिद्धान्त और व्यवहार का समन्वय कर के मानव जाति के उत्कर्ष के लिए वे नसीहत देते जायेगे। उनकी नसीहत धर्म-पुरुपो की आज्ञा का रूप नही लेगी। जिसमे सत्यनिष्ठा है, अध्यात्मनिष्ठा है और अहिंसा की सार्वभौम दृष्टि जिसे मजूर है, उसके लिए अन्दरूनी प्रेरणा से जो बात मान्य होगी सो मान्य। हर एक जमाने के मानव-हितचिन्तक तटस्थ तपस्वियो की नसीहत ही धर्मजीवन के लिए अन्तिम प्रमाण होगी और अन्तिम आधार हृदय के सतोष का ही होगा। 'शुद्धहृदयेन हि धर्मं जानाति।' इसलिये केवल प्राचीन धर्मग्रथ और धर्मकारो के वचन से बाहर नही सोचने का स्वभाव छोडकर हमे वैज्ञानिक ढग से शुद्ध निर्णय पर आना होगा।

और, केवल आहार और आजीविका के साधन के क्षेत्र से अपने को मर्यादित न करके अहिंसा-जैसे सार्वभौम, सर्वकल्याणकारी सिद्धान्त का उपयोग और विनियोग, युद्ध और शाति-जैसे जगत्व्यापी सवालो का सर्वोदयी हल ढूँढने मे ऐसा करना जरूरी हो गया है। वशसघर्ष, वर्गसघर्ष आदि विश्वव्यापी भयानक सघर्षों का निराकरण करके समन्वय की स्थापना करने के लिये अहिंसा की मदद कैसी हो सकती है, यह देखने के लिये ऋषि-तुल्य चिन्तन और विज्ञानवीरो की प्रयोग-परायणता एकत्र करनी होगी। ऐसा मिलान करने से ही सजीवनी विद्या प्राप्त होगी।

इस दिशा मे प्रारम्भ करना ही सब से महत्त्व की बात है। प्रारम्भ होने पर भगवान् की ओर से बुद्धियोग मिलेगा और योग्य व्यक्तियो का सहयोग तथा दिशा-दर्शन भी मिलेगा। पूर्व के और पश्चिम के मनीषियो ने आज तक जो चिन्तन किया है, अनुभव पाया है, और प्रयोग भी किये है, उनको एकत्र ला से भविष्य की दिशा स्पष्ट हो सकेगी। किसी ने ठीक ही कहा है कि प्राचीन की योगविद्या और आधुनिक काल की प्रयोग-विद्या दोनो के समन्वय से सत्ययु की और धर्मयुग की स्थापना हो सकेगी। यह समय ऐसे नये प्रस्थान का है

१५ अप्रेल १९६३

महामानव का साक्षात्कार

क्षमापन का दिन

•

धार्मिक व्यक्तिवाद

•

धर्मसाधना का सवाल

•

महामानव का साक्षात्कार

क्षमापन का दिन

[१]

लोग कहते हैं कि अहिंसा शब्द अभाव रूप है जैसे मोक्ष शब्द भी अभाव रूप ही है। मैं मानता हूँ कि इन शब्दों का यह दोष नहीं है किन्तु गुण है। अगर अहिंसा के लिये भाव रूप कोई शब्द रखा गया हो तो वह है प्रेम या मैत्री। प्रेम शब्द का दुरुपयोग हो जाता है। मैत्री शब्द में दुरुपयोग का वह डर नहीं है। असल में अहिंसा, मैत्री और प्रेम या स्नेह में आत्मीयता का भाव आता है। हम अपना भला चाहते हैं, अपने दोषों को छोटे कर देखते हैं, अपनी भूलों को झट क्षमा करते हैं और सुधर जाने के संकल्प पर तुरन्त विश्वास करते हैं। जहाँ-जहाँ हमारे मन में आत्मीयता होती है, वहाँ-वहाँ हमारी ये सब वृत्तियाँ स्वाभाविकता से प्रकट होती हैं।

अपने पराये का भेद भूलकर दूसरों का भी भला चाहना, दूसरों के भले के लिये आराम के लिये, स्वयं कष्ट उठाना और दूसरों के दोषों के प्रति क्षमावृत्ति रखना, यही है अहिंसा, यही है मैत्री-भावना। जहाँ मैत्री-भावना है वहाँ बदला लेने की इच्छा नहीं होती। जब अमृतसर पंजाब में जनरल डायर ने हमारे लोगों की कत्ल की और उनको तरह-तरह से पीड़ित और अपमानित किया, तब गांधीजी ने सरकार से न्याय की मांग की। किन्तु साथ यह भी कहा कि हम जनरल डायर को सजा नहीं कराना चाहते। गांधीजी ने यह जो नया रुख धारण किया उसमें कोई आश्चर्य नहीं था, किन्तु सारे राष्ट्र ने कुछ सोचने के बाद उनकी इस बदला न लेने की नीति को तुरन्त मान लिया। इस पर से सिद्ध होता है कि हमारे देश की संस्कृति में अहिंसा गहराई तक पहुँची हुई है। गांधीजी जैसे समर्थ कर्मयोगी ही लोगों के हृदय में पैठकर उनकी सोयी हुई अहिंसा को जाग्रत कर सकते हैं।

आज का दिन क्षमा करने का और क्षमा मांगने का है। जिन महावीरों ने इस व्रत की, इस रिवाज की और ऐसे दिनों की स्थापना की, उनके हृदय में सच्ची और जीवित अहिंसा थी। वे शान्ति के साथ कायोत्सर्ग भी कर सकते थे। हम लोग मुँह से अहिंसा का समर्थन भी करते हैं, और अन्याय करने वालों को सजा भी दिलाना चाहते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु कई दफे पाप का बदला घोरतर पाप कर के ही लेना चाहते हैं।

हमारी सारी दुनिया इस दोष मे, इस नशे मे फँसी हुई है। हिटलर ने राष्ट्रीय पैमाने पर यहूदियो का ध्वंस किया। स्टालिन ने अपने लोगो को आदेश देकर जर्मनो का द्वेष सिखाया। उसने अपने लोगो को कहा कि जब तक काफी मात्रा मे जर्मनो का द्वेष न कर सको तब तक तुम्हे विजय मिलने की नही है।

आज अमेरिका हम से नाराज है, क्योकि हम रशिया का द्वेष नही कर पाते, उस की ओर तथा चीन देश की ओर शक की निगाह से नही देखते। आज चद लोग हम पर बहुत नाराज है, क्योकि हम पाकिस्तान से प्रचारित द्वेष-धर्म का बदला द्वेष-प्रचार से नही लेते। हमारे पुण्य-पुरुषो ने सिखाया कि द्वेष का शमन द्वेष से नही होता। वैर से वैर बढता ही है। वैर का शमन अवैर से ही हो सकता है।

हिन्दू सस्कृति की बुनियाद का वचन है 'न पापे प्रति पाप स्याद्।' पापी का बदला लेने के लिये हम स्वय पापी न बने। मैत्री की दृष्टि से हम सब की ओर देखे। सब की ओर यानी मित्र, उदासीन, तटस्थ, शत्रु, पापी, अनाचारी, दुराचारी, आततायी और दभी ऐसे सब की ओर हम मैत्री भाव से ही देखे और चले।

भारत सरकार ने पाकिस्तान के प्रति, अमेरिका और इग्लैण्ड के प्रति, जापान और चीन के प्रति यही भाव रखा है। अमेरिका जैसे अनेक देश इसलिये हम पर भले ही नाराज हो किन्तु वे समझ गये है कि हमारी यह नीति ही श्रेष्ठ नीति है। पाकिस्तान कुछ भी करे, हम उन्हे अन्याय नही करने देगे, किन्तु साथ-साथ उन के प्रति मैत्रीभाव ही रखेंगे। बधु-भाव को न हम छोडेंगे, न भूलेगे।

मैंने अब तक आतरराष्ट्रीय क्षेत्र की बातें की। हमे अपने समाज के अन्दर भी यही क्षमा-वृत्ति और मैत्री-भावना दृढ करनी चाहिये। हमारे हाथों किसी का अन्याय न हो और किसी का, उसने हमारा अन्याय किया इसलिये, हम द्वेप न करें। अन्याय का प्रतिकार अवश्य करें, किन्तु बदला लेने की बात सोचें तक नही।

लेकिन मेरे मन मे शका उठती है कि आज की इस सभा के जैसी सभायें करने से यह काम हो सकेगा ?

जब कोई नयी दवा बताई जाती है तब हम उसे श्रद्धा से ले लेते है। दूसरा चारा ही नही रहता है। किन्तु जब कोई पुरानी दवा हमारे सामने रखी जाती है, तब हम पूछते है कि क्या ऐसा कोई सबूत है कि इस दवा के सेवन से कोई आदमी रोग मुक्त हुआ है ?

ईसाई धर्म के जगद्‌गुरु पोप हर साल बडे दिनो मे मैत्री-भावना का उपदेश करते है और शान्ति के लिये प्रार्थना करते है। उनके उस प्रयास का कही कुछ असर नही दीख पडता। हमारे जैन भाई भी हर साल सब को क्षमा करते है, और सब से क्षमा की याचना भी करते हे, लेकिन अन्य समाज की अपेक्षा हमारे जैन भाई अधिक क्षमाशील हैं, ऐसा कोई अनुभव नही है। साधुओ के बीच भी जो ईर्षा, असूया पायी जाती है, वह शाब्दिक सकल्पो से और पवित्र सूत्रो के रटन से दूर नही होती। धर्म का रास्ता कभी इतना सस्ता नही होता है। आज हम अच्छे विचार व्यक्त करके या सुनकर सतोष न माने कि हमने आज कुछ किया। चद लोग तो ऐसा ही मानते है कि आज तक का पाप पश्चात्ताप करके धो डाला। अब नया पाप करने की छुट्टी मिल गयी।

ऐसा कहकर भी हम थक गये है कि बोलने के दिन खत्म हो गये हैं। अब कुछ करना चाहिये। व्रत त्योहार का दिन आ गया, इस वास्ते कुछ करना चाहिये, कुछ कहना चाहिये। कम से कम एक अच्छा सकल्प करना चाहिये, ऐसा सोचकर हम इकट्ठा होते हे। सभा के अन्त मे मान लेते है कि हमने कुछ पुण्य कर्म किये सही। किन्तु आज तक ऐसे जितने भी दिन मनाये उसका नतीजा क्या हुआ, सो भी सोचना चाहिये। अगर हम अतर्मुखी हो सके, निश्चय का बल लगाकर कोई सकल्प किया, तो आज का दिन हमने मनाया।

एक बात मे हमने प्रगति की है सही। वह यह कि हम छोटे-छोटे फिरको के बाहर निकले। अच्छी बात सुनने के लिये, अच्छा कार्य करने के लिये और अगर हो सके तो जीवन मे परिवर्तन करने के लिये हम अपने फिरके मे बधे नही रहते है। कूप-मण्डूक वृत्ति हमने छोड दी है। अन्य धर्मी लोगो पर हम विश्वास करने लगे है। उनके साथ मेल-जोल बढा रहे है, उनकी बाते सुनने को तैयार हैं।

जिस तरह हम अपने व्रत-उत्सव मे औरो को बुलाते है उसी तरह हमे भी उनके व्रत-उत्सव मे शरीक होना चाहिये। सिर्फ मुसलमानो की बात मै नही कर रहा हूँ। ईसाई, यहूदी, पारसी आदि सब धर्मों के और सब देश के लोगो के शुभ कार्यो मे हमे शरीक होना चाहिये। दिल्ली जैसे राजधानी के शहर मे दुनिया के सब देशों के प्रतिनिधि पाये जाते है। यहाँ हम सब से मिल सकते है, सब के साथ मैत्रीभाव बढा सकते है। यह भी कोई छोटी साधना नही है।

[२]

प्रवृत्तिशील इस दुनिया मे सब लोग बाहर देखते है। दूसरो की टीका टिप्पणी करते है। यह देखकर उपनिषद् के ऋषि कहते है, 'विधाता ने जब शरीर मे आँख, कान आदि इन्द्रियाँ कुरेदी, तब उन्हे बाहर देखने वाली बनाया। अतर्मुख होकर अपनी ओर देखना और अपने गुण-दोष को पहचानना कोई बुद्धिमान आदमी ही कर सकता है—(परॉचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद् धीर प्रत्यग् आत्मान ऐक्षत् आवृत्तचक्षु अमृतत्वमिच्छन्।)'

अपने गुण-दोष देखने की आदत डालने के लिये हमारे पुरखो ने खास रिवाज, व्रत और त्यौहार बनाये है। उस दिन सुबह उठते ही मनुष्य अपने स्वभाव और जीवन की जाँच करता है और जिस किसी का तनिक भी बिगाडा हो, किसी का अन्याय किया हो, मन से भी किसी का अहित सोचा हो, उसके पास जाकर उसकी क्षमा माँगने का रिवाज है। इस विधि को क्षमापन कहते है।

इस क्षमापन मे मुख्य भाग तो अन्तर्मुख होकर अपने दोष को देखना और जिस किसी का अन्याय किया हो उसके पास जाकर अपने दोष का स्वीकार करना और बाद मे उसकी क्षमा माँगना है।

अगर मैं हरएक के पास जाकर इतना ही कहूँ कि, "इस साल के दरमियान मेरी ओर से जो कुछ भी गलती हुई हो, दोष हुआ हो, उसकी क्षमा कीजिये", तो उसमे से कुछ भी निकलता नही दीख पडता। सुनने वाला आदमी भी कह देता है 'बहुत अच्छा'। इसके अन्दर भी गहराई नही

होगी। फल इतना ही होता है कि दोनों के बीच अगर कुछ कटुता आ गई हो तो उसे छोडने का थोडा-सा मौका मिलता है और औपचारिक क्षमा करने के बाद उस साल मे हुए झगडे का जिक्र आदमी नहीं कर सकता।

अच्छा रास्ता तो यह है कि दोनों व्यक्ति बैठ कर शान्ति से क्षमावृत्ति से बाते करें। अपने जो दोप ध्यान मे आ जाये, उनका नाम लेकर क्षमा मांगे और एक दूसरे के सद्भाव की याचना करे। वह दिन सचमुच एक नया प्रारम्भ करने का दिन है।

महाराष्ट्र मे मकर सक्रान्ति के दिन लोग स्नेह और मिठास के प्रतीक तिल और गुड एक दूसरे को देकर सद्भाव की याचना करते है। उसमे क्षमापन का हिस्सा नही है। ऐसा माना गया है कि जहाँ सद्भाव आया वहाँ मन मे कटुता रह नही सकती। बहुत-सी बाते तो मनुष्य भूल ही जाता है। और चन्द बाते मन मे रही भी, तो वह चुभती नही। द्वेप का कचरा दूर करने के लिये बुहारी लेकर उसके पीछे पडने की जरूरत नही है। प्रेम पैदा हुआ तो द्वेप आप ही आप गायब हो जाता है। जैसे धूप निकलते कुहरा।

गुजरात मे, खासकर के जैनियो मे क्षमापन का सुन्दर रिवाज है। वे कहते हैं—*मिथ्या मे दुष्कृत स्यात्*—मैने जो कुछ भी बुरा किया हो वह नहीं किया जैसा हो जाय। मायावादी वेदान्ती इस प्रार्थना का रहस्य जल्दी और अच्छी तरह से समझ सकेंगे। जो लोग सारे जगत की हस्ती को मायारूप मानने के लिए तैयार है, वे किसी के भी दुष्कार्य को मायारूप समझकर मिथ्या मान कर उसे भूल जाने के लिये आसानी से तैयार होंगे।

जो हो, अन्तर्मुख होकर अपने दोपो को देखने का स्वभाव हरएक को बढाना चाहिये। अभिमान छोडकर अपने दोप कबूल करने मे मानसिक आरोग्य है और सामाजिक सुगन्धि है, यह पहचानना चाहिये। दूसर के दोपो को क्षमा करने की तत्परता मन मे होनी चाहिये और समाज मे परस्पर सद्भाव बढाने का अखण्ड प्रयत्न चलना चाहिये।

मनुष्य-मनुष्य के बीच ऐसा वायुमण्डल पैदा करने की आवश्यकता स्पष्ट है। लेकिन भक्त लोग भगवान् के पास से भी नित्य क्षमा माँगते हैं। ऐसे अपराध-क्षमापन के स्तोत्र भी बनाये गये हैं, जिनमे अपने सारे दोपो की फेहरिस्त भी होती है और भगवान् को उसकी उदारता, उसका वात्सल्य और उसके सामर्थ्य की याद भी दिलाई जाती है। अपने दोपो को यादकर के

पश्चात्ताप से पानी-पानी हो जाना स्वाभाविक है, योग्य है। लेकिन भगवान् को उसके कर्त्तव्य की याद दिलाना और लेनदार पैसे वसूल करता हो वैसे भगवान् से क्षमा वसूल करना, अच्छा नही लगता। लेकिन भक्त सब तरह के होते है और लोगो को भी तरह-तरह के स्तोत्र भाते है। जो हो, क्षमापन का वायुमण्डल औपचारिक, कृत्रिम और यान्त्रिक न बने तब तक ही उसका कुछ उपयोग है। जो एक दिन के लिये बताया गया है, वह हमेशा के लिये रहे, यही है अन्तिम उद्देश्य।

१५ सितम्बर १९५९

धार्मिक व्यक्तिवाद

"दुनिया भले ही मांस खाये, मैं तो अन्नाहारी ही रहूँगा, दुनिया भले कल-कारखाने और बड़े-बड़े शहर की संस्कृति बढ़ाती जाये, । मैं अपने इर्द-गिर्द गाँव का वातावरण ही सभाले रहूँगा, दुनिया भले युद्ध की तैयारियाँ करे, और समय-समय पर खूनखार युद्ध चलाये, मैं हाथ मे शस्त्र नही लूँगा और युद्ध मे शरीक नही हूँगा, दुनिया भले विलास और व्यभिचार मे डूब जाय, मैं अपने लिये निर्विकारिता और ब्रह्मचर्य का ही आदर्श रखूँगा, दुनिया मे भले अब्जपतियो का राज्य चले, मैं तो अकिंचन, अपरिग्रही ही रहूँगा, दुनिया मे भले जटिल-से-जटिल परावलम्बन बढ़ता जाय, मैं अपने जितना स्वावलम्बन और स्वयपूर्णता लेकर बैठूँगा—" यह है भारत मे धर्म पालन का तरीका। दुनिया मे भले ही अधर्म चले, मेरा अपना व्यक्तिगत जीवन धर्मपरायण रहा तो मुझे सतोष है। धर्मनिष्ठ लोगों का यह व्यक्तिवाद है।

व्यापारी कहता है 'मै अपना स्वार्थ सभाल लूँगा, मेरे यहाँ आकर चीज खरीदने वाले ग्राहक उनका अपना स्वार्थ सभालें। मैं क्यों उनके स्वार्थ को सभालने का जिम्मा लूँ? Let the buyers beware हर एक अपने-अपने स्वार्थ को सभाल लेगा तो दुनिया मे आप-ही-आप सब की याने सबके स्वार्थ की रक्षा होगी।' यह हुआ स्वार्थ का व्यक्तिवाद।

क्या पहले धार्मिक व्यक्तिवाद मे और दूसरे स्वार्थ के व्यक्तिवाद मे कोई विशेष फर्क है? धार्मिक व्यक्तिवाद कहता है कि एक आदमी अगर अपने धर्म का शुद्ध और परिपूर्ण पालन करे तो औरों को धर्म का पालन करना ही पड़ेगा। वे उदाहरण देते हैं कि चौरस फ्रेम (चौखटा) का एक कोना पकड़कर अगर हमने उसे ठीक काटकोन बना दिया तो बाकी के कोन आप-ही-आप काट-कोन बन जायेगे।

यह श्रद्धा ठीक है। जब तक चार ही कोने वाली फ्रेम का सवाल है, सिद्धान्त ठीक बैठता है। लेकिन अगर फ्रेम के कोने बढ गये तो एक कोन ठीक करने मे बाकी के आप-ही-आप ठीक नही होते।

इसमे कोई शक नही है कि मेरा अधिकार मेरे जीवन तक ही सीमित है। लेकिन मेरा कर्त्तव्य वहाँ पूरा नही होता। मैं अपने को तो जरूर सभालूँ

लेकिन दूसरे का भी मुझे सोचना चाहिये। उसके विना मेरी धार्मिक साधना पूरी नही हो सकती। मैं अगर अपने धर्म का पालन नही करूँगा तो औरो के धर्म की सोचने की योग्यता और शक्ति मुझ मे नही आएगी। इस सत्य को तो कोई इन्कार नही कर सकता। साथ-साथ यह भी कबूल करना होगा कि अगर मै औरो की वात सोचने से इन्कार करूँ, औरो के हित-अहित के प्रति उदासीन वनूँ तो मै अपने व्यक्तिगत धर्म का पालन करने की शक्ति भी खो वैठूँगा। व्यक्ति अकेला धर्मपालन की साधना कर सकता है। किन्तु अकेले की धर्म-साधना चल नही सकती। सारे विश्व मे परस्परावलवन है। मै अकेला मास न खाऊँ इस से प्राणी नही वचेगे। अगर मासाहार का विरोध करना है तो मै भी मास न खाऊँ और औरो को भी मास छोडने की प्रेरणा दूँ। ऐसा करने से ही मास-त्याग के आदर्श की व्यवहारिता और मर्यादा मेरे ध्यान मे आयेगी। अगर मै शस्त्र धारण करने से इन्कार करूँ, किसी से नही लडने का निश्चय कर वैठ जाऊँ तो मेरी और सव की रक्षा का वोझ मै औरो के सिर पर डाल दूँगा। इससे झगडा, युद्ध और हिंसा वन्द होने के नही। गाँधीजी अगर अपनी ही वात सोचकर वैठ जाते तो सत्याग्रह का आविष्कार न होता। जो लोग स्वय अपरिग्रही रहते है उनके कारण औरो को अपना परिग्रह वढाना पडता है। गृहस्थाश्रम के आदर्श मे यह वात स्पष्ट की है कि गृहस्थाश्रम पर आधार रखने वाले साधु, सन्यासी, विरक्त, वानप्रस्थ, वीमार, वृद्ध, वालक, अतिथि-अभ्यागत इन सव के लिये भी गृहस्थ को कमाना है। ये सव उसके आश्रित है। गृहस्थाश्रम का यह आदर्श मजूर रखते हुए भी कहना पडता है कि आश्रितो का जीवन धर्म-जीवन नही है। अगर अनेको का वोझ उठाने का भार गृहस्थाश्रम पर लाद दिया तो हमने समाज-सत्तावाद का, सोशियालिजम का, वीज वो ही दिया। सन्यासी क्यों न हो उसे अगर अन्न खाना है तो उसका धर्म है कि कम-से-कम अपने पेट के जितनी खेती वह जरूर करे।

स्वावलवन जरूर सवमे श्रेष्ठ धर्म है। परावलवन शुद्ध अधर्म ही है। आवश्यक परस्परावलवन है सच्चा सामुदायिक धर्म।

अनेक देश, अनेक सम्प्रदाय, अनेक जाति और अनेक पेशो मे विभक्त मानव-जीवन एक और अविभाज्य है। सव का मिल करके धर्म भी एक ही है अपने-अपने व्यक्तिगत धर्म याने कर्तव्य का यथाशक्ति पालन करने मे ही सव का सोचने की और सव की सेवा करने की योग्यता प्राप्त होती है। सव के प्रति उदासीन होने मे, सेवा-धर्म का इन्कार करने मे, धर्म-हानि ही होती है। धार्मिक व्यक्तिवाद अधा है, व्यर्थ है।

मार्च 1951

धर्म-भावना का सवाल

मैने भगवान् महावीर को आस्तिक-शिरोमणी कहा है। जब सनातनी पण्डित भारतीय दर्शन के बारे मे सोचते है तब आस्तिक और नास्तिक ऐसे दर्शनो के दो भेद करते हैं। इस भेद मे आस्तिक-नास्तिक का अर्थ कुछ अलग है। वेद का प्रमाण मानने वाले दर्शन आस्तिक, नही मानने वाले नास्तिक। (नास्तिको वेदनिन्दक ।) इस हिसाब से निरीश्वरवादो साख्य आस्तिक है, क्योकि वे वेद को प्रमाण मानते है। मै जब भगवान् महावीर स्वामी को आस्तिक-शिरोमणि कहता हूँ तब आस्तिक शब्द का मेरा अर्थ कुछ अलग है। 'मनुष्य-हृदय पर जिसका विश्वास है, दुरात्मा भी किसी-न-किसी दिन सज्जन बनेगा और महात्मा भी बनेगा ऐसा जिसका विश्वास है वह है आस्तिक। क्रूर से क्रूर आदमी भी किसी-न-किसी दिन दया-धर्म के असर के नीचे आयेगा और दया, करुणा, अनुकम्पा तथा अहिंसा का पालन करते हुये चाहे जितने कष्ट सहन करेगा, अपना प्राण देकर भी दूसरे का प्राण बचाएगा, इतना जिसका मनुष्य हृदय की उन्नतिशीलता पर विश्वास है वह है आस्तिक। अन्यायकारी नृशस भी किसी-न-किसी दिन न्याय का तकाजा समझ जाएगा और कबूल करेगा और न्याय-पालन करने के लिए अपना स्वार्थ छोड देगा, अपना सर्वस्व खोने के लिये तैयार होगा, ऐसा जिसका मनुष्य-हृदय पर विश्वास है वह आस्तिक है।'

ऐसे ही विश्वास के कारण महात्माजी सब लोगो के प्रति प्रेम, आदर, विश्वास और आशा से पेश आते थे। अगर किसी ने महात्माजी को दस दफा धोखा दिया तो भी ग्यारहवी दफा उस पर विश्वास रखने के लिए वे तैयार होते थे। उनका कहना था कि 'अगर ग्यारह दफा उस आदमी मे सच्ची उपरति हुई और सदाचार के रास्ते पर आने का उसने प्रारम्भ किया और मैंने मेरे अविश्वास के कारण उसके प्रयत्न मे मदद नही की तो फिर मेरी आस्तिकता कहाँ गई ? अगर ग्यारहवी दफा भी उस आदमी ने मुझे ठगा तो उससे उसका नुकसान होगा। मेरा तो सचमुच कुछ भी नुकसान नही होगा। सत्याग्रही को कभी हारना है ही नही।'

भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर के जमाने मे हमारे देश के बहुत-से लोग मास खाने थे । बडे-बडे ब्राह्मण भी मास खाते थे । जनक जैसे थोडे लोग मास से निवृत्त हुए थे । वेद मे गाय को 'अघ्न्या' कहा हे । 'अघ्न्या' माने न मारने योग्य । तो भी पुराने जमाने मे गोहत्या होती थी । सनातनियो ने इस बात से इनकार नही किया है । घर मे आये हुए मेहमानो को मधुपर्क अर्पण करते पशु-हत्या करने का रिवाज था । राजा रन्तिदेव चर्मण्वती (चम्बल) नदी के किनारे वडे-बडे यज्ञ करते थे । तब इतने पशु मारे जाते थे कि नदी का पानी लाल रहता था और नदी के किनारे जानवरो के चमडे सूखने के लिए इतने फैलाये जाते थे कि लोगो ने नदी का नाम ही 'चर्मण्वती' रखा ।

नाहक का झगडा खडा न करने के हेतु मैने ऊपर की बाते सयम से लिखी है ।

प्राचीन भारत मे, और देशो के समान मनुष्य का मास खाने वाले लोग भी कही-कही पाये जाते थे । मनुष्य-मास के बिना जिसका चलता नही था ऐसे राजा का जिक्र भी पुराने ग्रथो मे पाया जाना हे । मुसाफिरी करते जब किसी सौदागर की लडकी रास्ते मे मर गयी और सौदागर के पास खाने का दूसरा कोई अन्न था नही तब उसने अपनी लडकी का मास पका कर खाया ऐसे वर्णन भी उस जमाने के धर्म-ग्रन्थो मे पाये जाते है ।

ऐसे गिरे हुये जमाने मे जिसके मन से अहिंसा-धर्म का उत्कट उदय हुआ और जिसने पशु-पक्षी तो क्या, कृमि-कीट की हिसा को भी पाप समझा उसकी कारुणिकता लोकोत्तर थी । सर्वत्र जब मासाहार प्रचलित था, नर-मॉस खाने के किस्से भी सुनाई देते थे, ऐसे जमाने मे विश्वास और श्रद्धा के साथ आत्यतिक अहिंसा का प्रचार करना ओर विश्वास करना कि 'ऐसे लोग भी तेजस्वी धर्मोपदेश के असर मे आ सकेगे और मासाहार छोड देगे, प्राणी-हत्या से निवृत्त होगे' यह सर्वोच्च आस्तिकता का लक्षण है ।

किसी धर्म का हृदय मे जब उदय होता है तब उसका आचरण धीमे-धीमे वढता है । कॉलेज के दिनो मे जब मैने स्वदेशी का व्रत लिया तब शुरु मे घर मे परदेशी चीनी लाना बन्द कर दिया । लेकिन होटलो मे जाकर जब चाय पीता था और मिष्टान्न खाता था तब वहॉ स्वदेशी चीनी का आग्रह नही

रखता था। आगे चलकर अपने और अपने मित्रो के घर मे स्वदेशी चीनी का आग्रह रखने लगा। होटल मे जाकर खाना छोड दिया। लेकिन मुसाफिरी मे परदेशी चीनी के पदार्थ ले सकता था। जब स्वदेशी का आग्रह आगे जाकर वढा तो स्वदेशी-परदेशी दोनो तरह की चीनी ही छोड दी। तब भी दवा के लिये स्वदेशी मिश्री लेने की छूट रखी थी।

बुद्ध भगवान् ने अपने भिक्षुओ से कहा था कि जानवरो को मत मारो। धर्म के नाम से यज्ञ मे जो पशु मारे जाते थे उनका निषेध जैसा भगवान् नेमिनाथ ने किया था वैसे भगवान् बुद्ध भी करते थे। लेकिन उन्होने अपने भिक्षुओ से कहा था कि मै मास भोजन का निषेध नही करता हूँ। अगर खास तुम्हारे लिये कोई पशु मारता है तो वह मास तुम्हे नही खाना चाहिये। लेकिन अगर कही किसी के घर पर मास पक ही गया है और वह तुम्हे खिलाता है तो ऐसा मास खाने मे हर्ज नही।

शायद बुद्ध-महावीर के दिनो मे हर घर मे मास पकता ही था। मासाहार न करने का नियम कोई भिक्षु करे तो उसे आसानी से भिक्षा नही मिलती और लोगो को भिक्षुओ के लिये खास अलग रसोई वनानी पडती। भिक्षुओ के अनेक नियमो मे यह भी एक नियम होता है कि अपने आहार के लिये गृहपति को कम से कम तकलीफ दी जाय। जो चीज अनायास मिले उसी से अपना भोजन सम्पन्न करे।

भगवान् महावीर ने अपने समय के साधुओ के लिये कैसे नियम वनाये थे उसका स्पष्ट चित्र मिलना जरूरी है। लेकिन उस पर से हम आज अपने लिये नियम नही वना सकते।

जो मासाहारी थे उन्होने मासाहार का धीरे-धीरे त्याग किया। उसमे भी कई नियम वनाये गये थे। कैसे पक्षी या जानवर का मास खा सकते है और कैसा मास नही खा सकते, इसके विस्तृत वर्णन मनुस्मृति आदि ग्रन्थो मे पाये जाते है। मनुष्य की प्रगति धीरे-धीरे और क्रमश होती है। आज जैनियो ने वहुबीज कन्द और फल खाना भी छोड दिया है। जैन धर्म के इतिहास से हम देख सकते है कि हमारे लोग कहाँ थे और कहाँ पहुँच गये है। कभी-कभी उत्साह मे आकर लोग वहुत कुछ आगे वढते है और फिर अतिरेक से पछता कर सौम्य नियम वनाते है। चन्द साधु श्वासोच्छ्वास के द्वारा होने

वाली सूक्ष्म कीटो की हिंसा कम करने के लिये नाक के नीचे मुँहपत्ती बाँधते है। चन्द लोग नहीं बाँधते। स्वय महावीर स्वामी मुँहपत्ती बाँधते थे या नही सो हम नही जानते। वस्त्रमात्र का त्याग करने के बाद मुँहपत्ती का तो शायद सवाल ही नही रहता।

तो क्या मुँहपत्ती न बाँधने वाले महावीर स्वामी अपने धर्माचरण मे कच्चे या शिथिल गिने जायेंगे ? जो साधु आज मुँहपत्ती बाँधते है उनकी अपेक्षा मुँहपत्ती न बाँधने वाले साधु कम या हीन समझे जाये ? धर्म का विकास क्रमश होता है। पुराने जमाने के अच्छे-से-अच्छे लोगों का भी अनुसरण आज हम नही कर सकते।

वेदकाल मे नियोग की प्रथा थी। वेदव्यास जी के दिनो तक वह प्रथा चालू थी। आज उसे हम निन्द्य समझते है। व्यास जी का उदाहरण सुनकर आज हम आज के लोगो के लिये नियोग का समर्थन नही करते और यह भी नहीं कहते कि व्यास जी के नियोग का अर्थ ही कुछ अलग था। रामायण मे जिक्र आता है कि श्री रामचन्द्र जी मृगया करते थे और मास खाते थे। सीता माता ने गगा नदी का शराब के घडो से अभिषेक किया था। लेकिन ऐसी पुरानी बातों से हम आज उनका अनुकरण करने को नही तैयार होते और पुरानी बातें छिपाना भी नही चाहते।

एक बात यहाँ स्पष्ट कर दूँ। मै जन्म से निरामिष भोजी हूँ। न कभी मास खाया है और न आइन्दा खाने की सम्भावना है। मै आहार के लिए प्राणियों की हत्या करना पाप समझता हूँ। दिल से चाहता हूँ कि मनुष्य जाति प्राणी हत्या छोड दे, मासाहार भी छोड दे। लेकिन किसी को मास छोडने की नसीहत देते कई बाते सोचनी पडती है।

पुराने जमाने मे लोग अपने व्यक्तिगत धर्म का या सामाजिक धर्म का जब विचार करते थे तब समस्त व्यापक दुनिया का ख्याल उनके सामने हमेशा नही रहता था। नैतिक आदर्श के आधार पर वे धर्म-निर्णय करते थे और वह योग्य भी था।

आज व्यवहार की दृष्टि से भी सोचना पडता है। गाँधीजी ने कहा भी है कि जो धर्म व्यवहार की कसौटी पर खरा नही सिद्ध होता वह शुद्ध

धर्म नहीं है। अब मांसाहार-त्याग का आदर्श दुनिया के सामने रखते चन्द बातें सोचनी चाहिये। दुनिया की सुधरी हुयी सब सरकारें हर बात के आंकड़े इकट्ठा करती हैं और जागतिक संस्थायें उनका अध्ययन करती हैं। इसलिये अब सोचना होगा कि मनुष्य-जाति में खाने को मांगने वाले मुँह कितने हैं— यानी मनुष्य संख्या कितनी है? साथ-साथ यह भी सोचना पड़ेगा कि दुनिया में गेहूँ, चावल, साग, फल आदि खाद्य पदार्थ कितने पैदा होते हैं? अगर धान्याहार, फलाहार और शाकाहार से उतनी लोक-संख्या को हम जिन्दा नहीं रख सकते हैं तो अन्नाहार की मदद में अण्डे खाने की इजाजत दे सकते हैं? मनुष्य के जैसे सांस लेने वाले पशु-पक्षियों को अभयदान देकर जलचर मछलियों को खाने की इजाजत दे सकते हैं?

ये दोनों सुझाव या पर्याय हमारे या हमारे जमाने के नहीं हैं। अहिंसा की ओर प्रगति करने की इच्छा रखने वाले लोगों ने ये बीच की मन्जिलें सोची हैं।

हमारे देश में गो-रक्षा का आदर्श भी इसी वृत्ति से स्थापित हुआ है। पशुओं को मार कर खायें तो भी गाय जैसे जानवरों को तो नहीं मारना चाहिये, क्योंकि उनसे हमें दूध मिलता है। और, हल चलाने में, गाड़ी या कोश खींचने में बैल की सेवा जरूरी है। इसलिये गाय-बैल को नीति-धर्म के अन्दर लाना चाहिये, यानि उन्हें अपने कुटुम्बी समझकर उनकी रक्षा और उनका पालन करना चाहिये। हिन्दू धर्म कहता है कि गो-रक्षा धर्म अगर मनुष्य को जँच गया तो वहां से हृदय के विकास का प्रारम्भ हुआ। फिर तो आदमी धीरे-धीरे सब प्राणियों के प्रति अहिंसावृत्ति बढ़ाता जायगा।

अब आहार का सवाल लेकर मनुष्य जाति को बताना होगा कि मांसाहार के त्याग को कैसे सफल करें। इसके रास्ते दो हैं। या तो अन्नोत्पत्ति हम जोरों से बढ़ायें या मनुष्य की प्रजोत्पत्ति का कुछ नियन्त्रण करें, या दोनों उपाय एक साथ चलायें।

मांसाहार त्याग का प्रचार करने वाले को इस रचनात्मक प्रवृत्ति से प्रारम्भ करना होगा और जब तक आहार और लोक-संख्या के सवाल को हल नहीं किया, मांसाहार त्याग का आदर्श मनुष्य जाति के सामने अन्तिम आदर्श के रूप में रखते हुये भी मांसाहारी लोगों के प्रति धैर्य के साथ सद्भाव रखना होगा।

मामाहार तामसी है, मासाहार से मनुष्य क्रूर होता है, ऐसी वातो का प्रचार करने के पहले इस दिशा मे भी पूरा सशोधन करना चाहिये। केवल व्यक्तियो के जीवन मे भी देखा जाय तो मासाहारी लोगो मे न्यायनिष्ठ, दया-धर्मी, कारुणिक लोग भी पाये जाते है और इससे उलटा क्रूर, कठोर, कपटी, अन्याई लोग भी पाये जाते है। धान्याहारी लोगो मे भी वैसा ही है। मासा-हारी-समाज और धान्याहारी-समाज की व्यापक तुलना करने पर भी ऐसा ही पाया जाता है। धान्याहारी लोग अधिक दयावान न्यायनिष्ठ, नि स्वार्थी और विश्ववात्सल्य के उपासक है, ऐसा नही पाया गया। विषय सेवन के बारे मे भी अनुभव ऐसा ही है। भर्तृहरि ने उदाहरण दिया ही है कि हाथी और वन-वराह का मास खानेवाला सिह साल भर मे किसी एक ही समय रति-सुख लेता है और कीडे भी नही खाने वाला कबूतर हर हमेशा रति-सुख मे ही फसा हुआ रहता है। हमे तो एक ही बात सोचनी है। प्राणी की हत्या करने मे पाप है और प्राणियो को मारने का मनुष्य को अधिकार नही है। ये बाते दुनिया के सामने हम सौम्यता से रखते जाये और ऊपर बताये हुये दो सवालो का हल ढूँढते जाये।

राम वनवास मे शिकार करते थे और सीता मास पकाकर उनको खिलाती थी, यह बात हम लोगो के सामने रोज-रोज रखने की कोशिश न करे। लेकिन अगर किसी ने रामायण के श्लोक उद्धृत करके यह बात हमारे सामने रखी तो हम उसके ऊपर चिढ भी न जायें। हम इतना ही कह सकते है कि हम रामचन्द्र जी से वचननिष्ठा, प्रजानिष्ठा, पितृभक्ति आदि बाते सीख सकते है। हमारे आहार का धर्म उनके पास से हमने सीखने का नही सोचा है, अथवा, हम यह भी कह सकते है कि ऐतिहासिक राम अपूर्ण हो सकते है अथवा, उनके जमाने के आदर्श के अनुसार पूर्ण होते हुये भी आज के हमारे आदर्श के अनुसार अपूर्ण हैं। जिन की हम पूजा और उपासना करते है वे राम तो प्रत्यक्ष भगवान् है। उनकी जीवन-लीला तो एक रूपक ही है।

महात्मा गाँधी ने अपनी युवावस्था मे मास खाया। उसका बयान उन्होने स्वय किया है। इस पर से उनका माहात्म्य कम नही होता और हम यह भी सिद्ध करने की कोशिश नही करते कि उन्होंने जो खाया सो मास नही था किन्तु खुमी (भूछत्र) था। चन्द लोग मास और माष का साम्य लेकर कहते है जहाँ मासाहार की बात आती है वहाँ माष यानि उडद का अर्थ

लेना चाहिये। चन्द लोग यज्ञ करते हुये भी उसमे पशु-हत्या न करते हुये उडद के आटे का पिष्ट-पशु वनाते थे।

प्राचीन काल के ऐतिहासिक [सबूतो के साथ हम ऐसी खीचा-तानी क्यो करे ? भगवान् बुद्ध ने विगडे हुए मास का वनाया हुआ पदार्थ खाया होगा और उससे उनका देहान्त हुआ होगा। सचमुच शूकर मद्दव क्या था ? इसकी खोज हम कर सकते है। लेकिन अगर यह सिद्ध हुआ कि भगवान् बुद्ध ने खाया था वह मास ही था तो हम समझ जायेगे कि बुद्ध भगवान् ने आखिर तक मासाहार त्याग का निश्चय नही किया था। हम यह दलील करने नही वैठेगे कि जव स्वय बुद्ध भगवान् ने आखिर तक मास खाना नही छोडा था तो फिर हम क्यो छोडे ? जिसे छोडना है वह तो मासहार छोडेगा ही और जिसे नही छोडना है उसे अगर बुद्ध भगवान् का उदाहरण नही मिला तो और किसी का मिलेगा।

किसी असती, कुलटा की वात हे कि उसके रामायण-महाभारत सुनने के वाद किसी ने उससे पूछा कि इन पवित्र ग्रन्थों के पढने से तुम्हे क्या वोध मिला ? उसने तुरन्त कहा, 'द्रौपदी के पॉच पति थे।' सीता, सावित्री, मन्दोदरी, गान्धारी की वाते भी तो उन ग्रन्थो मे थी!

ऐतिहासिक सशोधन के वारे मे हमे नाजुक वदन, चिडचिडा या touchy नही वनना चाहिये। सत्य निर्णय के लिये वाद-विवाद चाहे जितना चले, उसमे धर्म-भावना की वात नही लानी चाहिये।

'रिलिजियस लीडर्स' किताव के वारे मे जो चर्चा चली और काण्ड हुआ, उस पर से हमे वोध लेना चाहिये। वह किताव मैंने पढ कर देखी, सारी पूरी नही, किन्तु इस्लाम के नवी के वारे मे जो लिखा है, और गॉधीजी के वारे मे जो लिखा है उतना पढ गया। लिखने वाले की नीयत के वारे मे मन मे आदर पैदा नही हुआ।

भगवान् श्रीकृष्ण के जमाने मे उनके वारे मे लोगो ने भला-वुरा वहुत-कुछ कहा था। कृष्ण भक्तो ने कृष्णचरित्र लिखते वे सव वाते लिख रखी है। उस पर से हम इतना ही वोध लेते हे कि दुर्जन तो क्या, अश्रद्धालु टीकाकार भी ऐसा ही सोचेगे और ऐसा ही कहेगे।

जब जैन धर्मी लोग मानते है और कहते है कि 'श्रीकृष्ण फिलहाल नरक मे है और आगे जाकर किमी समय उनका उद्धार होगा' तब हम उनसे झगडा नही करने बैठते। इतना ही नही हम उनको दुर्जन भी नही कहते।

भारतीय सस्कृति का यह लक्षण है, यह खूबी है कि सत्य की खोज में हम निष्ठुर रहते है और किसी की धारणा गलत रही तो उस पर चिढते नही। अगर कोई सनातनी आन्दोलन उठाये कि जैन-ग्रन्थो मे श्रीकृष्ण के बारे मे जो कुछ लिखा है उसे हटाया जाय, तो मैं उसका विरोध करूँगा। हम एक सस्कारी राष्ट्र है। नाजुक वदन या चिडचिडे बनने का समय कब का चला गया। प्राचीन काल के साहित्य मे तरह-तरह की बाते होती है। उस जमाने का मानस समझने के लिये वे सब काम की है। उनकी ऐतिहासिक और तात्त्विक चर्चा चलने से किसी का नुकसान नही होता। सिर्फ सज्जनता की मर्यादा का भग न हो।

अब रही धर्मानन्द कोसम्बी की पुस्तक की बात। न उस ग्रन्थ का मै लेखक हूँ, न प्रकाशक। इस ग्रन्थ मे क्या-क्या है वह सब मैंने पढा भी नही था। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के बारे मे मैंने साहित्य अकादमी को सूचना नही की थी। जब मुझ से पूछा गया तब मैंने जरूर कहा कि धर्मानन्द उच्च कोटि के सशोधक है। बौद्ध धर्म के बारे मे उनका ज्ञान असाधारण गहरा है, जैन धर्म के प्रति श्रद्धा भक्ति रखने वाले उनके जैसे बौद्ध बहुत कम होगे। जन्म से ब्राह्मण होने के कारण हिन्दू धर्म के बारे मे टीका-टिप्पणी करने का उनका अधिकार विशेप है। इस टीका-टिप्पणी मे कभी-कभी कटुता भी आ जाती है, जिसकी ओर प सुखलालजी ने इशारा भी किया है। उन्होने गीता के बारे में और महात्मा गाँधी के बारे मे भी जो-कुछ लिखा है उसके साथ सब कोई सहमत नही होगे। लेकिन उनकी उस टीका-टिप्पणी से न कभी महात्माजी को बुरा लगा, न हममे से किसी को। उनके मन मे महात्माजी के प्रति असाधारण श्रद्धा भक्ति थी। धर्मानन्दजी का जीवन साधु का जीवन था। मै उनसे कहता था कि आप पार्श्वनाथ के शिष्य बन गये है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म पर उन्होने एक महत्व का ग्रन्थ लिखा है। उनके देहान्त के बाद मैंने प्रकाशित करवाया है। जैनियो से मेरी सिफारिश है कि खूब गौर से उसे पढे और धर्म-जीवन का एक आधुनिक तरीका उससे समझ ले।

मासाहार के बारे मे उन्होंने जब लिखा तब वे मेरी प्रार्थना से अहमदाबाद मे रहकर गुजरात विद्यापीठ मे काम करते थे और जैनियों के बीच ही रहते थे। उनके लेख से जब गुजरात मे खलबली मची तब सत्य-शोधक धर्मानन्दजी ने एक निवेदन जाहिर किया और कहा कि बात सत्य-शोधन की है। इस मे कटुता-लाने का कारण नही है। आप लोग गुजरात के किसी हरसिधभाई दिवेटिया जैसे सर्वमान्य हाइकोर्ट जज को निर्णायक के तौर पर नियुक्त कीजिये। मेरी बात मै उनके सामने रखूंगा, आप लोग अपनी बात रखिये। निर्णय अगर मेरे विरुद्ध हुआ तो मै मेरा लिखा हुआ वापस खीच लूंगा और सब से क्षमा मागूंगा। निर्णय आपके विरुद्ध हुआ तो आपको मेरी क्षमा माँगने की जरूरत नही है। चर्चा खत्म कर दे तो काफी होगा।

किसी ने इस चुनौती को स्वीकार नही किया और चर्चा शान्त हुई।

इसके बाद गुजरात विद्यापीठ के अध्यापक गोपालदास ने भी इसी विषय पर लिखा था। तब भी काफी चर्चा हुई और फिर से लोग शान्त हुये।

मेरे मित्र श्री लाड ने धर्मानन्दजी के पास बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। धर्मानन्दजी के समग्र ग्रन्थ प्रकाशित करने की इजाजत जब लाड साहब ने उनसे माँगी तब उन्होने कहा, "मैं खुशी से इजाजत दूंगा, इस शर्त पर कि जो कुछ मैने लिखा है वह वैसा का-वैसा ही छापा जाय। उसमे एक शब्द का तो क्या, स्वल्पविराम का भी फर्क न हो।"

ग्रन्थकार को ऐसा वचन देने के बाद और खास करके उनके देहान्त के बाद उनके ग्रन्थो मे से कुछ निकालना योग्य नही होगा। भगवान् बुद्ध के चरित्र के बारे मे जो कुछ मौलिक मसाला मिलता है उसे छानकर और आज तक जितना सशोधन हुआ है उसका पूरा अध्ययन करके धर्मानन्दजी ने एक प्रमाणभूत ग्रन्थ लिखा है। भारतीय सशोधन का वह उत्कृष्ट नमूना गिना जाता है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनो के अध्ययन के लिये ये दो ग्रन्थ —'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' और 'बुद्धचरित्र' हरएक को विवेचक बुद्धि से पढ़ने चाहिये।

सिद्धार्थ गौतम ने गृह-त्याग क्यो किया, इसके बारे मे गवेपणा करते जो कल्पना धर्मानन्दजी को जच गई उसे समझाने के लिये उन्होने 'वोधिसत्व' नामक एक नाटक लिखा है। वह भी पढने लायक है, क्योकि उसमे शाक्य मुनि के समय की राजनीतिक परिस्थिति का चित्र हमे मिलता है और गृहत्याग के पीछे रहे हुये राजनीतिक हेतु के बारे मे भी सोचने को मिलता है।

24–12–56

महामानव का साक्षात्कार

पर्युषण-पर्व व्याख्यान-माला के साथ मेरा सम्बन्ध माला के प्रारम्भ से ही रहा है। अहमदाबाद, बम्बई, कलकत्ता, इन्दौर, आकोला आदि मे मैंने पर्युषण पर्व के अवसर पर व्याख्यान दिये है। और बम्बई की व्याख्यान-माला मे तो मै आम तौर पर हर साल हाजिर रहा ही हूँ। उसमे अगर विघ्न आया है तो स्वराज-आन्दोलन के फलस्वरूप जेल-यात्रा मे ही।

पर्युषण-पर्व व्याख्यान-माला शुरू हुई और जब लोकप्रिय हुई, उस वक्त एक सनातनी जैन भाई ने कुढकर मुझे लिखा था "पर्युषण पर्व मे जिस तरह की रूढि हमारे जात-भाइयो मे चली आई है उसे तोडने का काम श्री परमानन्द भाई जैसे लोग करते है। आप जैनेतर है। अत आप जैसो को उसमे क्यो हिस्सा लेना चाहिये? इस व्याख्यान-माला मे बडे-बडे लोग आकर व्याख्यान देते है। फिर रूढिगत कार्यक्रम का भाव कौन पूछे? आपको चाहिये कि आप इस पर्युषण व्याख्यान-माला मे हिस्सा न ले।"

उस भाई के शब्द बहुत ही सौम्य भाषा मे मैंने यहाँ दिये है। इस व्याख्यान-माला को यह एक उत्तम सर्टिफिकेट मिला है, ऐसा उस वक्त मैंने माना था। लेकिन साथ-साथ यह विचार भी किया था कि उस भाई की रूढिचुस्त आत्मा की भावना को सभालने के लिये उस व्याख्यान-माला के साथ का अपना सम्बन्ध मैं क्यो न तोड दूँ? फिर मुझे खयाल आया कि उस माला मे व्याख्यान करने के लिये जिन भाइयो को बुलाया जाता है, वह जैन हो या जैनेतर, उन सब मे जैन धर्म के मुख्य सिद्धातो के प्रति सच्चा हार्दिक आदर रहता है। जैन धर्म के स्याद्वाद और सप्तभगी न्याय का प्रत्यक्ष और जीवन्त उदाहरण इस व्याख्यान-माला मे मिलता है। सर्व-धर्म समन्वय, धार्मिकता के प्रति उच्च भावना, धर्म के आधार पर समाज-सुधार का चिन्तन और सामाजिक सम्बन्धो मे विशाल हृदय की आत्मीयता की भावना, इस माला के यह सब गुण देखकर मुझे लगा कि रूढिवादी एतराजो के वश होना आवश्यक नही है। यथासमय रूढिवादी जैन भी इस प्रवृति को अपना लेंगे।

इतने साल का इस माला का कार्य देखते और उसका सिंहावलोकन करते हुये, इस माला के प्रति आदर पैदा होता है। माला की लोकप्रियता से हर्षोन्मत्त होकर इस प्रवृति पर असह्य नये वोझ लादने की भूल प्रवर्तको ने नही की, यह अभिनन्दनीय है। प्रवर्तको की यह प्रौढता इस माला को पोषक सिद्ध हुई है। माला ने बम्बई के सस्कारी गुजरातियो मे—केवल जैनो मे ही नही वल्कि इतर लोगो मे भी—जो विचार की उदारता कायम की है वह कोई मामूली कार्य नही है। आज हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सुधारक, उद्धारक सव तरह के लोग इस माला मे भाग लेते है। और, श्रोता-लोग विवेक और आदर पूर्वक उनकी बाते सुनते है और अपनाते है।

भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र, अहिंसा और उनका तपस्या प्रधान उपदेश, जैन धर्म के सिद्धान्त की खूबियाँ और वारीकियाँ इत्यादि विषय तो इसमे होते ही है। इसके अलावा धर्म के विनिमय के तमाम साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक और अन्य शास्त्रीय क्षेत्र भी यहाँ खोले जाते हैं और विकसित किये जाते है।

मैंने खुद यहाँ किन-किन विषयो पर व्याख्यान दिये उसका मुझे स्मरण नही है। लेकिन सास्कृतिक-जागृति और सास्कृतिक समन्वय के अनेक पहलुओ मे से जिस साल जो पहलू मुझे महत्त्व का लगा उस साल उस पहलू के बारे मे बोलने का मैंने रिवाज रखा। इस साल मेरी दृष्टि के अनुसार महामानव के साक्षात्कार पर यहाँ कुछ विचार पेश करना चाहता हूँ।

मनुष्य की अदम्य जिज्ञासा ने जाँच-पडताल और अध्ययन के लिये असख्य विषय खोजे है। आसमान के सितारो से लेकर पृथ्वी के गर्भ की ज्ञात अज्ञात धातुओ तक कोई भी चीज मनुष्य ने अपने जिज्ञासा क्षेत्र से बाहर नही रखी। पदार्थ-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, जीवविद्या, गणित और फलज्योतिष, इत्यादि शास्त्रो मे मनुष्य ने कई विभागो पर चिन्तन किया है। लेकिन मनुष्य के रस और उसके जीवन की कृतार्थता को देखते हुये यह मालूम होता है कि जाँच-पडताल और अध्ययन की दृष्टि से मनुष्य के लिये मनुष्य खुद ही सब से महत्त्व का विषय है।

"आत्मान विजानीयात्" इस ऋषि-वचन का जितना चाहे उतना विस्तृत अर्थ कर सकते है। अपनी जात को पहचानने के लिये मनुष्य ने हर

एक समाज के इतिहास लिख रखे, और राष्ट्रीयता या मानवता तक उनकी चर्चा की। अपने आपको पहचानने के लिये उसने अपने शरीर की जाँच की और शरीररचना-शास्त्र, आरोग्य-शास्त्र, आहार-शास्त्र वैद्यक इत्यादि शास्त्र रचे। उसके बाद उसको लगा कि अब हमे अपने मन को पहचानना चाहिये। सृष्टि की तमाम अद्भुत चीजो मे अगर कोई सब से अद्भुत तत्त्व है तो वह मनुष्य का मन है। मनुष्य जैसा शोधक कारीगर मन का पीछा करे तो उसमे से क्या-क्या ढूँढ नही निकालेगा ? योगविद्या और प्रयोगविद्या का विकास करके उसने मन की गहराई जाँची। (उसकी शक्तियाँ खोज निकाली, उसकी विकृतियो के इलाज ढूँढे) और आखिर जिन्दा रहते हुये भी अपने मन को मार कर उसके स्थान पर आत्मा और आत्मशक्ति को स्थापित करने की राज-विद्या का भी उसने विकास किया।

मनुष्य ने देखा कि अपने मन का वास शरीर मे होने पर भी उसका व्यक्तित्व उसमे नही समाता। सारा मानव-समाज ही मानव-जाति के लिए प्राथमिक इकाई (Unit) है। इसलिये उसने मानस-शास्त्र को सामाजिक रूप दिया, संपत्ति-शास्त्र विकसित किया, समाजशास्त्र जैसे एक नये ही शास्त्र का निर्माण किया। इतिहास मे जो न मिल सका सो नृवंश शास्त्र (anthropology) के जरिये जान लिया और आखिर अब मनुष्य सामाजिक-अध्यात्म तक पहुँचा है।

इस सामाजिक-अध्यात्म मे से नयी तरह का योग शास्त्र निर्माण होता है, विश्वात्मैक्य का नया दर्शन तैयार होता है, विश्व संगीत और विराट कला कायम होती है, इतना ही नही, बल्कि हम देखते है कि उसमे से नई राजनीति का भी जन्म हो रहा है। इसके बारे मे थोडे प्राथमिक विचार यहाँ प्रकट करना चाहता हूँ।

मनुष्य ने अपनी जीवनानुभूति के विकास के मुताबिक पहले गोत्रो की (clans and tribes) की कल्पना की। बाद मे राष्ट्र और साम्राज्य कायम किये। विशाल समाज की शास्त्रीय रचना करने के लिये उसने वर्ण-व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था की कल्पना की। इतना ही नही बल्कि उनका अमल भी कर देखा। हुनर उद्योग-धन्धो का विकास करते-करते उसने ट्रेड गील्डस (trade-guilds) आजमाये और फिलहाल राष्ट्रसंघो की स्थापना करके मानवता का साक्षात्कार करने के लिये वह प्रयत्नशील है।

शक्ति का उपासक होकर मनुष्य ने मानवता का साक्षात्कार करने के लिये राजनीति का आश्रय लिया और अनेक धर्म जो न कर सके वह सगठन-शक्ति के बल पर सिद्ध करने का बीडा उठाया। मनुष्य के यह प्रयोग अभी-अभी शुरु हुए है और उनकी आजमाइश चालू ही है।

लेकिन यह प्रयोग ज्यो-ज्यो जटिल होते जाते है त्यो-त्यो मनुष्य देखने लगा है कि इन प्रयोगो मे मतलब की कोई महत्व की चीज ही रह जाती है। शारीरिक और बौद्धिक-शक्ति, सगठन-शक्ति, तालीम और प्रचार के जरिये खिलती विचार-शक्ति—इन शक्तियो का नये-नये और अद्भुत ढग से इस्तेमाल करने पर भी मनुष्य अपने ध्येय की ओर आगे नही बढ सकता। यह देखकर अब वह अन्तर्मुख होने लगा है। शक्ति की उपेक्षा करके सदाचार का जीवित प्रचार करने का काम सतो ने प्राचीन काल से किया है। उसका गहरा असर हुआ है लेकिन वह (असर) व्यापक नही है। यह देख कर और यह महसूस करके कि इस मार्ग मे अपनी जाति के ऊपर ही सब से ज्यादा अकुश रखना पडता है, उस के प्रति मानव-जाति कुछ अश्रद्धालु और कुछ उदासीन बनी और उसने सैन्य-शक्ति, कानून की बागडोर, आर्थिक-सगठन और तालिम के प्रचार द्वारा ध्येय प्राप्ति का मनसूबा किया। लेकिन इसमे वह सफल रहेगी ऐसा विश्वास उसको नही हुआ।

पुरानी परिभाषा मे कहे तो सतो के विकसित किये हुये कल्याण मार्ग —शिव मार्ग पर मनुष्य को श्रद्धा होते हुये भी वह उस मार्ग को व्यापक न कर सका, और सेनापतियो ने तथा राज्यकर्ताओ ने यह अनुभव किया कि उनका अत्यन्त आग्रह और विश्वासपूर्वक बताया हुआ शक्तिमार्ग सफल सिद्ध नही होता। अत अब मनुष्य जाति ने शक्ति-तत्त्व को शिव-तत्त्व के अधीन किया। शिव-शक्ति के समन्वय के द्वारा वह अपनी उन्नति करने की बात सोच रही है।

इस तरह के प्रयोग पुराने समय से हो रहे है। फिर भी अभी-अभी मनुष्य-जाति उस मार्ग पर अधिक ध्यान देने लगी है। लेकिन यहाँ भी फिर पुराना अनुभव होता है कि शक्ति की पार्थिव अथवा पाशविक शक्ति से शिव तत्त्व का सामर्थ्य बढने के बजाय घटता है और वह अप्रतिष्ठित होता है। अत पार्थिव और पाशविक शक्ति का पूरा बहिष्कार करके शिवतत्त्व मे ही जो

अपनी आन्तरिक शक्ति निहित है उस पर ही अनन्य आधार रखना चाहिये। और, उसके आधार पर ही मनुष्य की सिर्फ व्यक्ति की ही नही बल्कि समस्त मानव-समाज की उन्नति होने वाली है, ऐसी श्रद्धा रखकर उस शिव-शक्ति का अनुभव करना चाहिये। गांधीजी ने उस शिव-शक्ति का नाम सत्याग्रह रखा है। उन्हं ने कहा कि सत्य अपनी आन्तरिक शक्ति से ही बलवान है। बाह्य शक्ति द्वारा उसकी (सत्य की) मदद करने से वह अपमानित और कमजोर होता है। (Truth is humiliated and weakened when backed by mere physical and brute force)।

जिसको इस महान् सिद्धान्त का अनुभव हुआ है उसे ही महामानव का साक्षात्कार होगा। जब तक मानव-जाति का हृदय सकुचित था, उसका अनुभव भी एकदेशीय था, तब तक मनुष्य को महामानव का साक्षात्कार नही हुआ। यूनान के लोगों ने अपने आपको ही सस्कारी, पूर्णमानव मानकर अन्य लोगो को जगली (Barbarians) कहा और यह सिद्धान्त जारी किया कि कुदरत ने ही उनको गुलाम होने के लिये पैदा किया है। (आज भी चन्द मानव जातियाँ मानती है कि आत्मा तो मनुष्य को ही हो सकती है। पशु-पक्षी आदि जलचर, खेचर तमाम मनुष्येतर प्राणियो को आत्मा है ही नही। अत ग्रीक लोगों के प्रति हँसने की जरूरत नही है।) आर्य लोगो ने भी अपने आपको श्रेष्ठ मानकर अनार्यों को हीन समझा। यहाँ तक कि मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने भी माना कि जो न्याय आर्यों के लिए लागू था वह शूर्पणखा, वालिके शबूक जैसो के लिये लागू नही हो सकता। आज गोरे लोग भी मानते है कि सभ्यता का विरसा हमारा ही है, रगीन प्रजा पिछडी हुई है उसके लिये स्वराज्य या स्वातन्त्र्य नही हैं। हालाकि वह मोह और मद अब ठीक-ठीक उतरा है, कम हुआ है।

अपने यहाँ तो हमने चार वर्ण और असख्य जातियो की सीढी बनाकर मानवता को करीब-करीब मिटा दिया। यहाँ तक कि न्याय-मन्दिर मे भी सब के लिये एक सरीखा न्याय नही। एक ही गुनाह के लिये ब्राह्मण को अलग सजा, क्षत्रिय और वैश्य के लिये अलग सजा, शूद्रो के लिये भयानक सजाये रखी और चण्डालो को सजा करते-करते हम खुद ही अन्याय करने लगे।

अब हम उस पुरातन पाप मे से मुक्त होना चाहते हैं। अब हम मानव मात्र की समानता कबूल करने लगे है। हाँ, पुरानी रूढि अब तक मिटाई नही

जा सकी है और हमारे देश के अधिकांश लोग समानता की नई कल्पना से अब भी अकुलाते है ।

हमें इस नई समानता का स्वरूप स्पष्ट समझ लेना चाहिये । सदाचारी और दुराचारी, देशभक्त और देशद्रोही, पुण्यात्मा और आततायी, धनवान और दरिद्र, ज्ञानी और अज्ञानी, अपना और पराया सभी अपने ही भाई-बन्धु है । मुझे यह समझना चाहिये कि मेरे पूर्वजो के पुण्य-प्रताप से जिस तरह मैं मगरूर होता हूँ और अपनी भूलों मे शर्माता हूँ, उसी तरह तमाम मानव जाति के समस्त व्यक्तियो के चारित्र्य मे अथवा उसके अभाव मे मेरा हिस्सा है, काफी हिस्सा है । भोली, दबी हुई और पिछडी हुई जातियो के दोषो के लिये उनको सजा मिले उसके बजाय मुझे ज्यादा सजा मिलनी चाहिये, क्योंकि वे अपने दोषो के बारे मे जागृत नही है, और, मैं इन दोषो के बारे मे जागृत होने पर भी मैंने उनके हाथो ये दोष होने दिये और आइन्दा भी मुझे इन दोषो का भान रहने वाला है, अत मुझे उनके हाथ से होते रहते इन दोषो को यकायक जबरदस्ती रोकना नही है, लेकिन बन्धु-भाव से उनकी सेवा करके उनमे यह भाव जागृत करना है ।

एक ही मिसाल लें । मुझे इस बात का भान हुआ कि पशु-पक्षी या मछलियो को मार कर खाना पाप है और मैंने वह आहार छोड दिया । इतना करने मे मैं अपने आपको निष्पाप नही मानूंगा । मेरे कुनबे वाले अगर मासाहार करते हैं तो जिस तरह मुझे महसूस होता है कि इसमे मेरा भी थोडा दोष है, उसी तरह अधिकाश मानव-जाति मासाहार करती है तो मुझे समझना चाहिये कि इस पाप मे मैं भी शामिल हूँ ।

यह समझने के साथ अगर मैं मासाहारियो से नफरत करूँ या कानून के जरिये उनको मासाहार करते रोकूँ तो वह मेरे लिये ठीक न होगा । इस बात को स्वीकार करके कि मानव-जाति इतनी आगे नही बढी है, मुझे चाहिये कि मैं धीरज रखूँ । मासाहारी लोगो से द्वेष या उनसे तिरस्कार तो मैं कभी न करूँ, उनको पापी भी न समझूँ, उनसे दूर भी न रहूँ । लेकिन उनके प्रसग मे आकर प्रेम और सेवा के जरिये उनको अपनाऊँ और विश्वास रखूँ कि इतनी अनुकूलता के बाद आहिस्ता-आहिस्ता वे मासाहार-त्याग के सिद्धान्त को जरूर समझ जायेगे । हमारे पूर्वजो ने इस धीरज को *श्रद्धा नाम* दिया है । और, श्रद्धा ही धार्मिकता की मुख्य निशानी है । मासाहार का पूरा-पूरा *त्याग*

करने पर भी मासाहारी लोगो को अपनाने मे मुझे थोडा भी सकोच न होना चाहिये ।

अपनी दुकान मे काम करते जैन कारकुनो को और जैन चपरासियो को जैन मालिक जिस तरह जाति की दृष्टि से अपना भाई मानता है और कोई भेद नही मानता, उसी तरह अपने घर मे नौकरी करने वाले तमाम नौकरो के लिये मनुष्य के रूप मे हमारे मन मे आत्मीयता होनी चाहिये ।

भारत के वासिंदो के वारे मे विचार करते वक्त और उनके नागरिकत्व को स्वीकारते वक्त वह हिन्दू है या मुसलमान, पारसी है या क्रिश्चन, उनके रिश्तेदार पाकिस्तान मे रहते है या हिन्दुस्तान मे, ऐसा भेद मन मे नही आना चाहिये । अपने देश मे वास करने वाले सब मेरे देश-वन्धु है, इस वात को स्वीकारने मे मन मे कोई भी अन्तराय न होना चाहिये और जव हमारे हृदय मे महामानव का साक्षात्कार होगा तव हमारे मन मे जो इज्जत सरदार वल्लभभाई पटेल के लिये है वही इज्जत विन्स्टन चर्चिल के लिये भी रहेगी । भारत अगर पुण्य-भूमि है तो इजिप्ट, इटली, जर्मनी और इगलैण्ड भी हमारे लिये पुण्यभूमि ही है । हरेक भूमि पर किसी-न-किसी मानव-महात्मा ने पुण्य-कार्य किये ही हैं । अगर गगा नदी पवित्र है तो नील या कोगो, व्हाईन या व्होलगा, मीसुरी-मीसीसीपी और हो-हाग-हो, ऐरावती और सीतावाका, सभी नदियाँ पवित्र है । क्योकि इन सव नदियो ने माता होकर मानव-जाति का पोषण किया है । किसी भी देश मे किसी भी आदमी के प्रति अन्याय होता हो तो वह मेरे भाई के प्रति ही होता है, ऐसी भावना मेरे मन मे पैदा होनी चाहिये । मेरे भाइयो मे से अगर कोई मेरे पास खडा है और उसको कोई मारता हो तो मैं वीच मे पडूँगा, मेरा और एक भाई कलकत्ता या श्रीनगर मे हो और उसे कोई मारता हो तो वहाँ उसे बचाने के लिये तुरन्त चाहे जा न सकूँ लेकिन यथासम्भव इलाज किये वगैर न रहूँ और कुछ भी न कर सकूँ तो कम-से-कम यह हरगिज न कहूँ कि वह मेरा भाई नही है । दुनिया के तमाम लोगो के प्रति मेरी ऐसी ही भावना होनी चाहिये ।

मेरा दान का प्रवाह अपने कुनवे के प्रति या अपने जाति-भाइयो के प्रति ही नही, वल्कि आसपास के सभी मानवो के प्रति वहना चाहिये और उस

प्रवाह मे दूर तक वहने की शक्ति हो तो जहाँ तक वह पहुँचे वहाँ तक बगैर किसी पक्षपात के तमाम मानवो को अपनाना चाहिये।

और, जहाँ पक्षपात करना पड़े वहाँ अपनो को प्रथम याद करने के बजाय जिनके प्रति मेरे या मेरे लोगो के हाथो अन्याय हुआ हो, जो ज्यादा असहाय हो, दबे हुये या निराश हो, उनके प्रति दान का पक्षपात होना चाहिये।

इस तरह की भावना जब उत्पन्न होगी, स्वीकृत होगी और सहज होगी तभी अहिंसा धर्म का सस्थापन कायम होगा। तभी मानव-जाति के बीच चलता सघर्प और विग्रह शान्त होगा। उच्च-नीच भाव गायब होगा, प्रेम की भावना बढेगी और फैलेगी। और, विराट मानव के साथ मानवो के हृदय मे बसने वाले भगवान् का साक्षात्कार होगा।

उपसंहार

क्या जैन समाज धर्म तेज दिखायेगा ?

क्या जैन समाज धर्मतेज दिखायेगा ?

जैन लोगो से मेरा सम्बन्ध इतना पुराना है और उन्होने मुझे इस प्रकार अपनाया है कि यहाँ आते मुझे पराया जैसा लगता ही नही।

मै जन्म से जैन नही हूँ, सनातनी ब्राह्मण हूँ। परन्तु ब्राह्मण का आदर्श मुझे हमारी स्मृतियो मे से मिला उससे कही अधिक बौद्ध और जैन ग्रन्थो मे सच्चे ब्राह्मण की जो व्याख्या दी है उसमे से मिला है।

'ब्रह्म जानाति ब्राह्मण' यह तो बहुत बडा आदर्श हुआ। सनातनी कहते है जिसके माँ-बाप ब्राह्मण है वह ब्राह्मण है। सनातनियो को अपना हिन्दू धर्म वश-परम्परा से मिला है।

अब दुनिया मे जो बडे-बडे धर्म है उनके मुख्य दो विभाग होते है।

(1) वश-परम्परा का। ऐसे धर्म गुण-कर्म का अनुशीलन करते है सही, परन्तु अपने धर्म-समाज मे किसी और को दाखिल होने के लिये निमत्रण नही देते। और, यदि कोई दाखिल होना चाहे तो उसका शायद ही स्वीकार होता है। मै मानता हूँ कि इस प्रकार के मुख्य धर्म तीन है—(1) हमारा सनातन हिन्दू धर्म, (2) पारसियो का जरथुस्त्री धर्म और (3) यहूदी धर्म। सब यहूदी एक ही वश के होते है क्या, इस बारे मे मेरे पास सही जानकारी नही है। परन्तु मै मानता हूँ कि यहूदी धर्म वश-परम्परा-प्राप्त ही होता है।

(अभी-अभी एक पुरुषार्थी सौराष्ट्री गुजराती ने पजाब जाकर आर्य-समाज की स्थापना की और उसने सनातनी हिन्दू धर्म का रूप बदलने का प्रयत्न किया। आर्यसमाज मे किसी भी देश का, किसी भी वश का मनुष्य दाखिल हो सकता है, मात्र अमुक शर्तो का स्वीकार करना काफी होगा।)

(2) धर्मो का दूसरा विभाग है—प्रचार-परायण धर्म। अमुक सिद्धान्तो का स्वीकार कीजिये, अमुक जीवन-क्रम पसन्द कीजिये और अमुक धर्म-सस्थापक को मान्य रखिये, अमुक ग्रन्थो के प्रामाण्य को स्वीकार कीजिये, तब आप उस धर्म मे प्रवेश कर सकते है। फिर तो आपका वश, आपका देश या

आपकी सस्कृति उसमे आडे नही आयेगे। ऐसे धर्म दुनिया के सब लोगो का स्वागत करते है, सबको निमन्त्रण देते है। ऐसे धर्मो मे मुख्य तीन है— (1) बौद्ध धर्म (2) ईसाई धर्म और (3) इस्लाम।

बौद्ध धर्म वास्तव मे हिन्दू धर्म मे सुधार करने को प्रवृत्त हुआ था। परन्तु उस धर्म मे वश-निष्ठा नही किन्तु विशिष्ट प्रकार की जीवन-निष्ठा सर्वोपरि हुई। प्रथम वह धर्म भारत मे सब जगह फैला। हिन्दू धर्म के कर्म-काण्ड से और ऊच-नीच भाव से ऊबे हुए लोगो को बौद्ध-विचार से नई प्रेरणा मिली। पुराने धर्म के अभिमानी और ठेकेदार लोगो ने बौद्ध धर्म का जबरदस्त विरोध किया, इसके इतिहास मे यहाँ नही उतरूँगा। मै इतना ही कहूँगा कि इस बौद्ध धर्म का हिन्दुस्तान के बाहर सतत स्वागत हुआ है। बौद्ध-प्रचारक पैदल हिमालय लाघ कर तिब्बत, चीन, मगोलिया आदि देशो मे पहुँचे। जिस धर्म से, जिस उपदेश से और जिस जीवन-दृष्टि से अपना कल्याण हुआ वह समस्त मानव-जाति को अगर हम न दे तो स्वार्थी कहलायेगे। जीवन का रहस्य और जीवन के उद्धार का मार्ग यही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। इसका प्रचार यदि न करेंगे तो 'वह मानवता का और सच्चे ज्ञान का द्रोह ही होगा' इस भावना से बौद्ध प्रचारक एशिया मे सर्वत्र फैल गये। एक ओर लका, दूसरी-ओर ब्रह्मदेश और उत्तर मे तिब्बत से जापान तक का सारा एशिया खण्ड, सारे को वे बौद्ध धर्म के प्रभाव मे लाये और अज्ञान मे सडने वाले लोगो को उन्होने रत्नत्रयी की भेंट की।

यही प्रभाव आप एक ईश्वर भक्त यहूदी के पुरुपार्थ मे देखेंगे। जैसे एक हिन्दू गौतम बुद्ध ने कल्याण-मार्ग का प्रचार किया उसी प्रकार ईसा ने यहूदियो को अपना धर्म परिपूर्ण करने की आवश्यकता समझाई। और, ईसा के शिष्यो ने धर्मवीर को शोभा दे इस प्रकार बहादुरी से ईसाई सघ की स्थापना की। उनका वह उत्साह लगभग दो हजार वर्ष हुए, अभी कम नही हुआ है। वे यूरोप मे फैले, अमेरिका को अपना बनाया, एशिया और अफ्रिका मे उनके प्रयत्न अखण्ड चालू ही है।

मानवी प्रयत्नो मे गुण-दोष साथ-साथ आयेगे ही। पवित्र हेतु मे भी अपवित्रता दाखिल हो जायेगी। कल्याण की प्रेरणा से किये हुए कुछ कामो मे अकल्याण के फल भी बटोरने होगे। परन्तु हमे कुल विचार कर मनुष्य-जाति आगे बढी है या नही, ऊर्ध्वगामी हुई है या अधोगामी, यही देखना है।

प्रचार-परायण तीसरा धर्म इस्लाम है। हजरत मोहम्मद पैगम्बर साहब ने अरबस्तान की हालत देखी। उसका बहुत चिन्तन किया। उन्हे ईश्वरी प्रेरणा हुई। उन्हे शिष्य भी अच्छे मिले। और, उस धर्म का प्रचार पूर्व और पश्चिम दानो तरफ हुआ।

योरोप मे स्पेन तक उस धर्म का असर पहुँचा था। तुर्किस्तान, ईरान, मध्य एशिया वगैरा प्रदेशो मे वह धर्म फैला। प्रवाह-क्रम से वह भारत मे भी आया। यहाँ हिन्दू धर्म मे उसका सघर्ष हुआ। हम यह न मान बैठे कि उस धर्म ने पठान और मुगल राजसत्ता के जोरो यहाँ अपना पैर जमाया। हिन्दू सस्कृति मे पिछडे लोग की अत्यन्त उपेक्षा थी। पवित्रता के अपने आदर्श जिसे मान्य न हो उसके बारे म हिन्दू लोग नफरत की भावना रखते है, उसका बहिष्कार करते है और उसे तिरस्कृत दशा मे रखते है। यह अधार्मिक वृत्ति तो है ही लेकिन उससे भी असह्य बात यह है कि कोई मनुष्य अपने चारित्र्य मे और जीवन-क्रम मे ऊँचा उठना चाहता हो तो जात-पांत मे मानने वाले हिन्दू अगुआ हीन मानी जाने वाली जाति को ऊँचा उठने नही देते। हिन्दू के मन मे हीनता भी स्वधर्म होने मे रक्षणपात्र थी। उस घोर अन्याय के विरुद्ध सन्तो ने बार-बार आवाज उठाई, परन्तु अन्याय का जबरदस्त प्रतिकार न किया। इसलिये यदि अपना उद्धार चाहते है तो धर्मान्तर करना ही होगा, ऐसी परिस्थिति हमने देश मे दाखिल की।

सारी मानव-जाति को अपने धर्म का लाभ पहुँचाने के प्रयत्न मे एक बडा दोष घुस गया और वह है सघ बढाने की लालसा। मुसलमान और ईसाई लोग के बीच सघर्ष चला, उन्हो ने अनेक युद्ध किये जिन्हे Wars between the Cross and the Crescent के तौर पर पहचाना जाता है।

ऐसा है दुनिया के धर्मो का इतिहास। इसमे जैन धर्म कहाँ बैठता है, इसका उत्कट चिन्तन होना जरूरी है।

भगवान् महावीर का जैन धर्म वशनिष्ठ नही है। विशिष्ट जीवन-दृष्टि और जीवनक्रम मानव-जाति के लिये अत्यन्त कल्याणकारी है ऐसा देख कर उन्होने प्रचार शुरू किया। ऐसे सुधार-धर्म मे जात-पांत का भेद और उच्च-नीच का पाखण्ड हो ही नही सकता।

क्या कोई कह सकता है कि ज्ञान तो अमुक मनुष्य को ही मिल सकता है, दूसरे लोगो को अज्ञानी ही रहना चाहिये, अमुक लोग अहिंसा धर्म का स्वीकार कर कैवल्य प्राप्त करे वह काफी है, वाकी की दुनिया हिंसा का स्वीकार कर एक-दूसरे का नाश करे तो हमे हर्ज नही ?

जैन धर्म सिद्धान्त से, स्वभाव से और मूल प्रेरणा के अनुसार सार्वभौम मानव-धर्म बनने के लिये पैदा हुआ है। उस धर्म के आद्य प्रचारक मे धर्मतेज था तव तक वह धर्म फैला। परन्तु साधु तपस्या बढाते-बढाते स्वार्थी मोक्षार्थी हुये और श्रावक तो वेचारे अनुयायी। अमुक आचारधर्म का पालन करे, शाकाहार का आग्रह रखे, यथाशक्ति दानधर्म करके छुट्टी पायें और धर्म कार्य के तौर पर साधुओ की पूजा करें, साधुओ को आश्रय दे और अपनी तपश्चर्या बढाने मे प्रोत्साहन दे। जिसकी तपस्या ज्यादा वह ज्यादा वडा साधु। उसी के वचन सुनने के लिये लोग दौडते है। और साधु भी जानते है कि श्रावक तो आखिर श्रावक ही रहेगे। वे अमुक सदाचार का पालन करे वह काफी है, फिर तो खूब कमाये और सुखी रहें।

जैन धर्म का रहस्य और स्वरूप समझने वाले साधुओ के कुछ ग्रन्थ मैंने देखे हैं। वे कहते है—जैन धर्म मे जात-पाँत को स्थान नही है। वात सही है, परन्तु वे उदाहरण देते है साधुओ के। पिछडी जमात के लोग भी जैन साधु वन जाये तो लोग उन्हे समान भाव से पूजते हे। साधु ज्ञान और तपस्या मे आगे वढते है तो उन्हे गुरु वनने मे कोई कठिनाई नही है।

परन्तु, श्रावको ने जैन धर्म की यह उदारता अपने साधु लोग को ही मुवारक वख्शी। अब ये साधु न विवाह करे, न कमाये, तपस्या वढाते जाये, उपदेश करते जाये। उन्हे जात-पाँत से सम्बन्ध आवे तो कैसे ? साधुओ मे जाति का उच्च-नीच भेद नही है यह ठीक है, पर साधु की जाति श्रावको से ऊँची है। और, इसलिये साधुओ के अमुक अधिकार लोगो को मान्य रखना ही चाहिये, इस प्रकार का आग्रह और अभिमान साधुओ मे कम नही है।

जहाँ सभी समाज शिथिल है और मानवो की दुर्बलता तथा विकृति समान रूप से फैली है वहाँ कौन किसको दोप दे ? जहाँ-जहाँ ज्ञान, पवित्रता, कारुण्य, सेवाभाव और उदारता हो वहाँ उसकी हम कदर करे। मेरा उद्देश्य किसी भी समाज या वर्ग के गुण-दोप की चर्चा करने का है ही नही। मुझे इतना ही कहना है कि जैन धर्म, जो मूल मे विश्व-कल्याण के लिये प्रवृत्त हुआ

वह हिन्दू धर्म के बुरे असर से वशनिष्ठ बन गया है। इने-गिने साधु किसी पिछडी कौम के दस-बीस लोगो को जैन धर्म की दीक्षा दे तो इससे जैन धर्म ने अपना मिशन छोड नही दिया है, यह सिद्ध नही होता।

साधु लोग श्रावको के सहारे जीते है। श्रावक रूढि की कसौटी पर साधुओ के आचार को कसते है। परिणामत श्रावक एव साधु रूढि मे सुधार करने की कल्पना भी नही कर सकते। मनुष्य के आदर्श मे सुधार हो, ज्ञान मे विकास हो, परिस्थिति मे बदल हो, तो भी रूढि का आग्रह तत्त्वत जो कायम रखे वह समाज चाहे जितना समृद्ध हो, उसे जडता का ही उपासक कहना होगा। बिना रूढि के सगठन नही हो सकता और बिना सगठन के समाज मे आदर्श टिकते नही, यह बात सही है। परन्तु, जैसे उम्र बढती जाती है वैसे शरीर बढता है, ज्ञान और अनुभव बढता है वैसे मन भी परिपक्व होता जाता है, उसी प्रकार जमाना बदलता है उसके अनुसार आदर्शो मे भी सुधार हो और रूढिया जडता का त्याग करके आवश्यक परिवर्तन समय पर करने को तैयार हो जाये। अगर ऐसा नही होता है तो सामाजिक-जीवन मे दम्भ दाखिल हो जायेगा, धर्म निष्ठा निष्प्राण हो जायेगी और अन्त मे नये और तेजस्वी तत्त्व पुराने धर्मो का तिरस्कार करके उन्हे खा डालेगे।

पश्चिम की सस्कृति अच्छी हो या बुरी जिदा है, प्राणवान है और अपना असर सर्वत्र फैलाती है। रूढिवादी समाजो का रिवाज भी अब निश्चित हुआ है। पश्चिम की ओर से कुछ नया आया कि 'वह अधार्मिक है, विकृति है' कहकर उसकी निन्दा करना। उसे रोकने का प्रयत्न करने के लिये प्राण-शक्ति तैयार करने की जिम्मेदारी के अभाव के कारण तटस्थता से आक्रमण को देखते रहना। वह आक्रमण घर मे सर्वत्र फैल जाय तब मन का विरोध भी ढीला करना और नई वस्तु कोमजूर रखना। कालान्तर से वे ही वस्तुएँ समाज-मान्य रूढिया बन जाती है और उसके लिये नया बचाव भी तैयार किया जाता है। हमारे यहाँ जमाना बदलता है हम उसे बदलते नही। बाहर से वस्तुएँ आती है, हम अपनी सस्कृति के अनुसार और हमारे जीवन की जरूरत के मुताबिक कुछ नया उपजाने का पुरुषार्थ नही करते। पोशाक हो या घर का साज-सामान हो, जो हमारे यहाँ आता है उसको बडबडाते या उत्साह-पूर्वक स्वीकार करते है और मानते है कि हम अपने धर्म के प्रति निष्ठावान है। सिर्फ कमाना और जीवनानद लेना इतनी ही हमारी प्रवृत्ति रहती है। (अकसर जीवनानद लेना आता नही है सो अलग बात है।)

हमारी इतनी वडी सस्कृति है, इतना वडा देश है और इतनी जवरदस्त लोकसख्या है, पर हमारा नेतृत्व कही भी नही है।

यदि हम अहिंसा-धर्म को मानते है और गाँधीजी ने अहिसा को जो व्यापक रूप दिया है उसके लिये हमे गर्व है तो हमे रूढियो का साम्राज्य तोडना चाहिये। जैन-रूढि के अनुसार खाने-पीने की सुविधा हो उसी प्रदेश मे जैन साधु रहे, विदेश जाये ही नही, तो अहिंसा धर्म का प्रचार कैसे होगा? यदि डॉक्टर कहे कि मैं तो अपनी जात को नीरोगी रखने मे मानता हूँ, रोगियो का सम्पर्क मुझे नहीं चाहिये, तो उसे आप डॉक्टर कहेगे क्या?

एक अमेरिकन अग्रेजो के खिलाफ लडा और उसने अमेरिका को स्वतन्त्र किया। वाद मे फ्रेंच लोगो की तकलीफे दूर करने के लिये और उस प्रजा को स्वतन्त्र करने के लिये वह फ्रास पहुँचा। किसी ने उसे ललकारा और पूछा, "स्वदेश छोडकर तू यहाँ कैसे आया? तेरा स्वदेश तो अमेरिका है न?" उसने जो जवाव दिया वह विश्व-साहित्य मे अमर हो गया है। उसने कहा, "अमेरिका मेरा स्वदेश था सही, परन्तु अव वहाँ पारतन्त्र्य नही रहा। और, मुझे तो पारतन्त्र्य के खिलाफ लडना है। इसलिये जहाँ पारतन्त्र्य हो उस देश को ही अपना स्वदेश वनाऊँगा। (My home is where liberty is not)।

जैन धर्म मे मानने वाले को—चाहे वह साधु हो या श्रावक—ऐसा ही कहना चाहिये कि 'जहाँ हिंसा फैल गयी है, निर्वल लोगो की दुःखमय हालत है, निर्वल प्राणियो की हाय कोई सुनता नही, वही मुझे दौड जाना है। अपने सुख का विचार किये विना, कोई भी जोखिम उठाकर, हिंसा-तत्त्व का विरोध करता रहूँगा। अहिंसा ही मानव-धर्म है, यह वात मनुष्य-जाति को समझाते रहना ही मेरा जीवन-धर्म है।'

महात्मा गाँधी ने मनुष्य-जाति को दिखा दिया कि अहिसा धर्म का पूरा पालन करके भी मनुष्य हिंसा के खिलाफ लड सकता है। अहिसा मे रहा हुआ क्षात्रतेज दुनिया के सामने प्रकट करना, यह था गाँधीजी का युग-कार्य। मानवी सस्कृति मे गाँधीजी ने जो यह महत्त्व की वृद्धि की उस कार्य को आगे चलाने के लिये जो सारी दुनिया मे हो जाय वे ही सच्चे अहिंसाधर्मी है।

10	गणधरवाद	(दलसुखभाई मालवणिया लिखित गुजराती गणधरवाद 'का हिन्दी अनुवाद) अनु० प्रो० पृथ्वीराज जैन सम्पादक—महोपाध्याय विनयसागर	50-00
11	जैन इन्सक्रिप्सन्स आफ राजस्थान	(राजस्थान के प्राचीन, ऐतिहासिक एव वैशिष्ट्यपूर्ण जैन शिलालेखो, मूर्तिलेखो का परिचयात्मक वर्णन) ले० रामवल्लभ सोमानी	70 00
12	एग्जेक्ट सायन्स फ्रोम जैन सोर्सेज पार्ट I, बेसिक मेथेमेटिक्स	ले० प्रो० लक्ष्मीचन्द जैन	15 00
13	प्राकृत काव्य मञ्जरी	ले० डा० प्रेम सुमन जैन	15 00
14	महावीर का जीवन सन्देश युग के सन्दर्भ मे	आचार्य काका कालेलकर	20 00
15	जैन पोलिटिकल थोट	डॉ० जी० सी० पाण्डे	25 00
16,	स्टडीज् आफ जैनिज्म	डॉ० टी० जी० कलघटगी	35 00
17	जैन बौद्ध और गीता का साधना मार्ग	डॉ० सागरमल जैन	
18	जैन बौद्ध और गीता का समाज दर्शन	डॉ० सागरमल जैन	

१ एक हजार रुपये से अधिक प्रकाशन खरीदने पर ४०% कमीशन और सस्थान के प्रकाशनो का पूरा सेट खरीदने पर ३०% दिया जाता है।

२ डाक-व्यय एव पैकिंग व्यय पृथक् से होगा।

प्राप्ति स्थान

राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान,

यति श्यामलालजी का उपासरा,

मोतीसिंह भोमियो का रास्ता, जयपुर–३

पिन कोड नम्बर—३०२ ००३